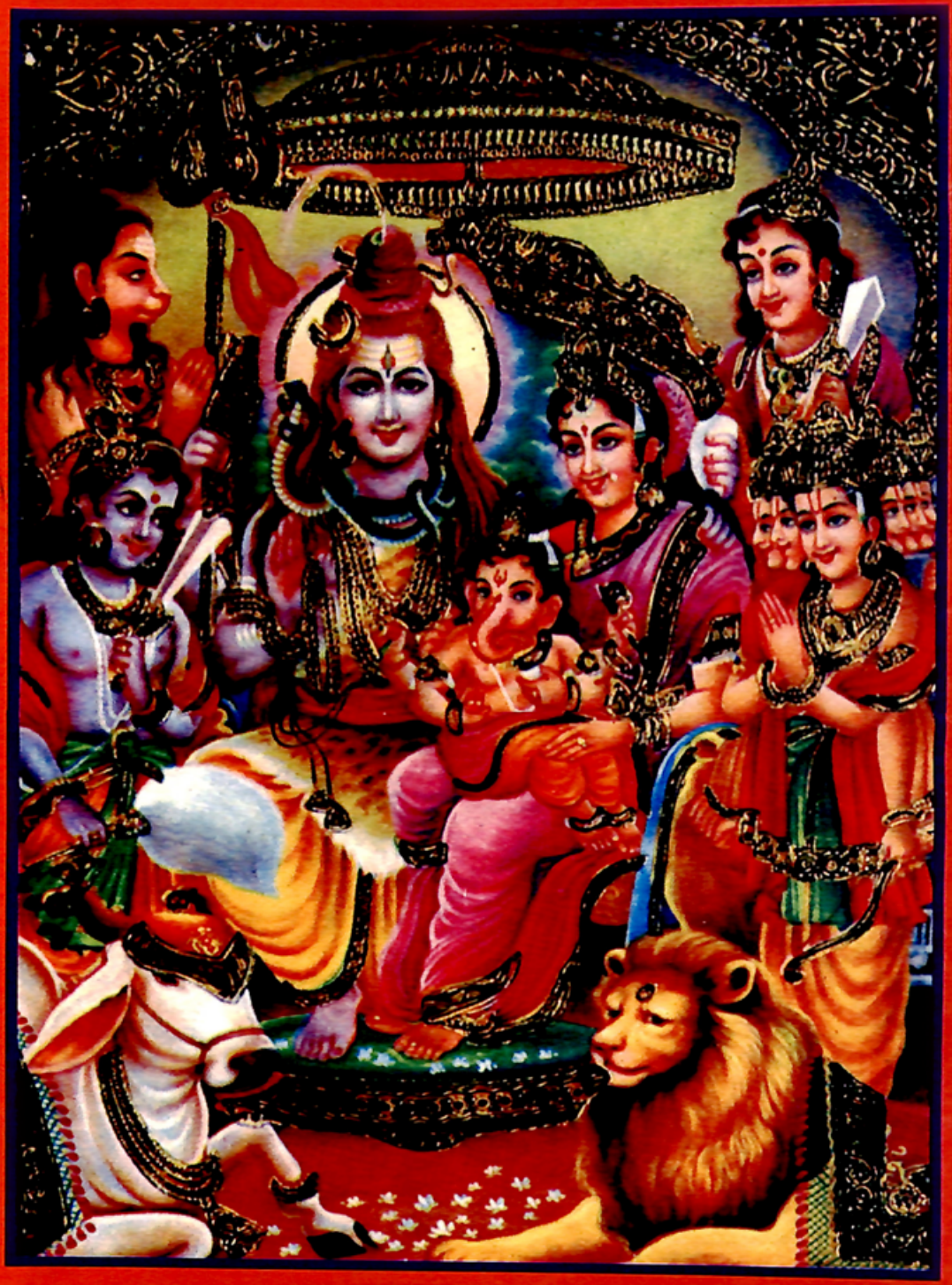

गृहस्थ आश्रम धन्य है

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

गृहस्थाश्रम धन्य है

[प्रश्नोत्तर]

प्रवचन स्थल : १२ अलीपुर रोड, कलकत्ता
दिनांक : २५ से २९ नवम्बर
१९८५

प्रवक्ता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशकीय

सातवाँ संस्करण :

*'गृहस्थाश्रम धन्य है'—इस प्रवचनमालाका ग्रन्थन हुआ था, सन् 1985 ई० के नवम्बरमें दिनांक 25 से 29 तक। प्रवचन-स्थल था—12 अलीपुर रोड, कलकत्ता। आयोजक थे, 'लक्ष्मीपत एज्यूकेशन फाउण्डेशन'की ओरसे स्व० लक्ष्मीपति सिंघानियाके चि० भरतहरि सिंघानिया और श्रीमती शारदा सिंघानिया। यह प्रवचन श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानने टेपसे परिश्रमपूर्वक लिख लिया था। उन्हें अनेकानेक साधुवाद! **पू० महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी**के प्रति इन सबकी अगाध श्रद्धा रही है, उसका प्रतिफल यह पुष्प अनेक सद्गृहस्थों तक पहुँचकर अपना सौरभ विखेर रहा है।*

'गृहस्थाश्रम धन्य है'की उपयोगिताको ध्यानमें रखकर अनेक सद्गृहस्थोंने अपने वर-कन्याओंके वैवाहिक मांगलिक अवसरों पर अपने परिजनोंमें इसकी प्रतियाँ वितरित की हैं, और इसे पढ़नेकी प्रेरणा दी। इस प्रकार इसका प्रसारण सम्भव हुआ। आशा है उनका अनुसरण कर भविष्यमें हमारे सुधी पाठक इस सत्साहित्य विस्तारमें अधिकाधिक सहयोग करेंगे।

*अभी हमारे अध्यक्ष **महन्तश्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वतीजी** की प्रेरणासे सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा इसका छठा संस्करण आपके कर-कमलोंमें अपनी विशिष्ट साजसज्जाके साथ प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष है।*

विजया दशमी
9 अक्टूबर 2008

—ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई/वृन्दावन

विषय-क्रम

	प्रकाशकीय	ग
	शुभाशीर्वाद	ङ
	श्रीभरत सिंघानिया-स्वागत भाषण	च
२५-११-८५	(१)	
१-१	आश्रम-व्यवस्था, गृहस्थाश्रमका स्वरूप और महत्त्व	१
२६-११-८५	(२)	
२-१	'मामनुस्मर युद्ध च' इस सिद्धान्तका गृहस्थ-जीवनमें उपयोग	१४
२-२	गृहस्थ जीवनमें पञ्चयज्ञ	१८
२-३	साकार या निराकार साधनाका औचित्य	२१
२-४	'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही'का तात्पर्य	२५
२-५	मोह, ममता, प्रेम और आसक्तिका अन्तर	२७
२७-११-८५	(३)	
३-१	यज्ञ, दान और तपका महत्त्व एवं गृहस्थ-जीवनमें उपयोग	३१
२८-११-८५	(४)	
४-१	'अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य'—पुरुष व नारी जीवनकी पूर्णता	४७
४-२	ताडनाका औचित्य और उपयोग	५२
४-३	सहिष्णुताकी सीमा	५७
४-४	वाणीकी कटुता और असंयमका परिणाम एवं नियन्त्रणका उपाय	६१
२९-११-८५	(५)	
५-१	कर्म, गृहस्थ-धर्म और उसकी मंगलमयता	६६
५-२	आत्म-सम्मान तथा अहंकार-सम्बन्धी मान्यताओंका सही मूल्यांकन, प्रत्येक अवस्थामें आनन्दका अनुभव	७३

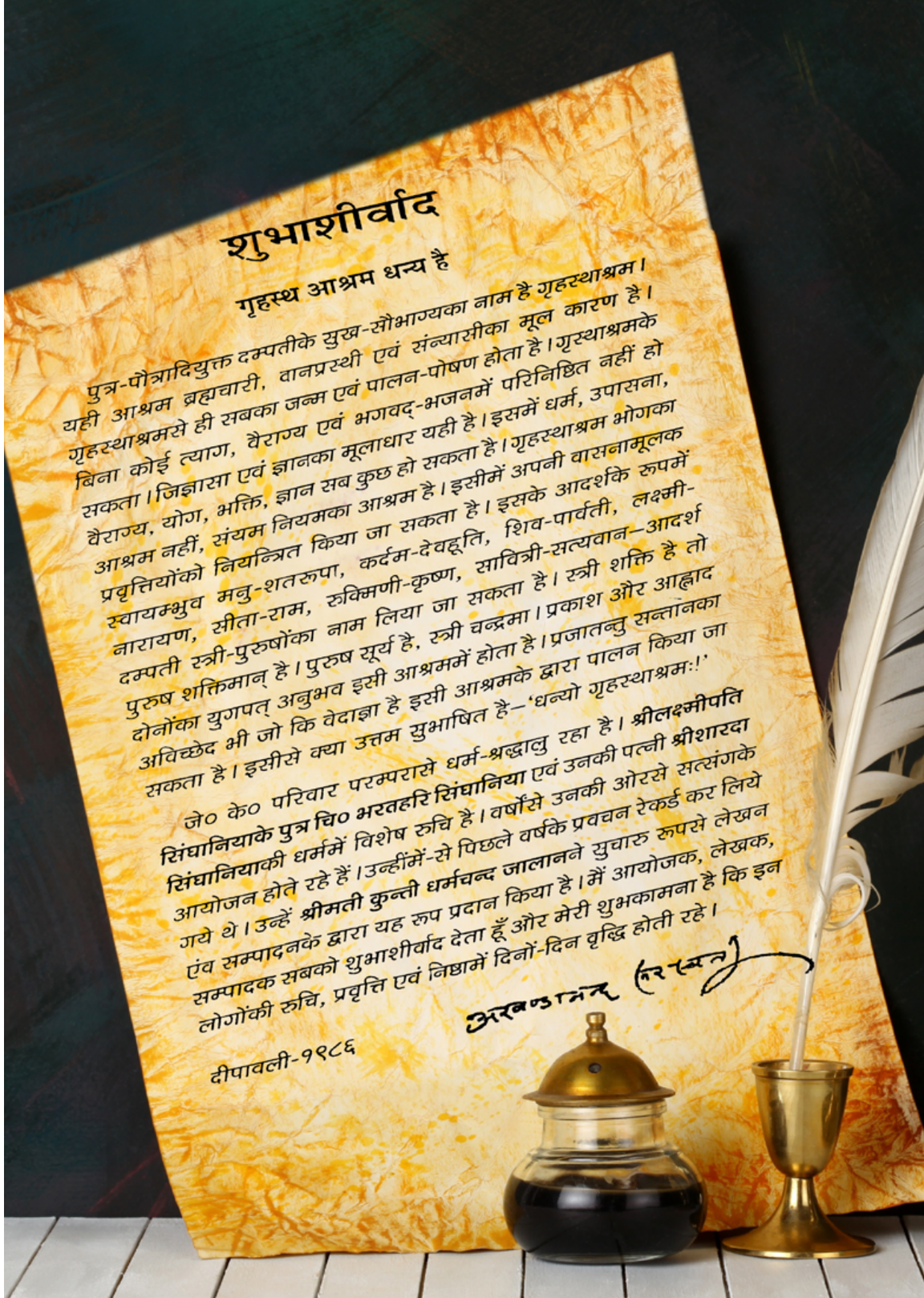

लक्ष्मीपत एज्यूकेशन फाउण्डेशन द्वारा आयोजित
१२, अलीपुर रोडमें गृहस्थ-धर्मपर प्रश्नोत्तर प्रवचनके प्रारम्भमें
श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके स्वागतमें
श्रीभरतहरि सिंघानिया द्वारा किया गया–

निवेदन

आज पुनः पूज्य श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी महाराजको हम अपने मध्य पाकर अति हर्षित हैं तथा उन्हें भक्ति भरा प्रणाम निवेदन करते हैं। अन्य उपस्थित महात्माओंको भी विनम्र प्रणाम एवं सभी श्रोताओंका सादर स्वागत करते हैं।

महाराजजी अति वात्सल्य भरे भावसे प्रश्नोत्तर कार्यक्रम द्वारा जो पीयूष हमें पिला रहे हैं वह अत्यन्त ही शुभ तथा रुचिकर सिद्ध हो रहा है। विगत वर्षोंमें सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक निरूपणकी तुलनामें व्यावहारिक जीवनको धर्ममय बनाये जानेपर ही हमारा आग्रह रहा है और इस वर्ष भी उसी भाँति हमने 'गृहस्थाश्रम'का विषय चुना है।

हम चाहते हैं कि हम सद्गृहस्थ होकर अपने जीवनकी विभिन्न क्रिया-कलापोंको इस प्रकार निभायें कि हमारा जीवन सात्त्विक तथा रस-परिपूर्ण हो जाय और यह सनातन धर्म एवं वैदिक ज्ञान-धाराके अनुरूप सिद्ध हो।

आज जीवनमें चारों आश्रमोंकी विभिन्न व्यवस्थाओंका परिचालन कठिन हो रहा है। ब्रह्मचर्याश्रमका काल प्रायः किसी गुरुकुल अथवा शिक्षण-संस्थामें न रहकर घरपर ही बीतता है। इसी प्रकार बहुत कम लोग ही वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रममें प्रवेश कर पाते हैं। रह गया केवल गृहस्थाश्रम। अब इसमें हम किस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठ एवं धर्मनिष्ठ होकर अपना अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्त करें–इसके लिए हमें महाराजजीसे मार्ग-दर्शनकी आवश्यकता है।

शास्त्रीय पद्धतिमें प्रथम माहात्म्यका ही विश्लेषण किये जानेकी परिपाटी रही है। अतः हमारा प्रथम प्रश्न है :–

गृहस्थ आश्रम धन्य है

: १ :

२५-११-८५

प्रश्न–भारतीय आश्रम-व्यवस्थाका स्वरूप समझाते हुए हमें यह बतानेकी कृपा करें कि गृहस्थाश्रमका स्वरूप क्या है तथा इसका महत्त्व क्या है? इसे जहाँ एक ओर–'गृह कारण नाना जंजाला' कहा गया है, वहाँ दूसरी ओर 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' भी कहा गया है। कृपया इसे समझायें!

उत्तर—गृहस्थाश्रम सभी आश्रमोंका मूल और आश्रय है। 'मूल'का अर्थ है कि जो भी पैदा होगा—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी—वह गृहस्थके घरमें ही पैदा होगा, माने उसकी जन्म-भूमि गृहस्थका घर ही तो

होगी; इसलिए न केवल गृहस्थाश्रमका मूल, बल्कि ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम—सभी आश्रमोंका मूल गृहस्थाश्रम है, सभी गृहस्थके ही घरमें पैदा होते हैं। और 'आश्रम'का अर्थ है—जहाँसे खानेके लिए रोटी मिले—वह 'आश्रम'। रोटी तो केवल गृहस्थोंके ही घरमें बनती है और खेती भी केवल गृहस्थ ही करते हैं। और लोग—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी—तो खेती करते नहीं हैं और न ही इनके यहाँ रोटी बनती है, इन्हें तो रोटी गृहस्थोंसे ही लेनी पड़ती है, चाहे बनी-बनायी लें और चाहे आटा, दाल, चावल लेकर बनायें, लेना तो गृहस्थोंसे ही पड़ता है, इसलिए गृहस्थाश्रम सभी आश्रमोंका 'आश्रम' है।

अब देखिये। संस्कृतमें 'आश्रम' शब्दका अर्थ होता है—मर्यादित श्रम! 'आ' उपसर्ग जो है, वह मर्यादाका वाचक है।

ईषदर्थे क्रियायोगे।

'श्रम' का अर्थ है—'श्रम' तो 'आश्रम' माने अपने श्रमको थोड़ा-थोड़ा बाँट लेना। इक्ष्वाकु वंशका वर्णन करते हुए कालिदासने कहा—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

शैशवमें विद्याका अभ्यास हो, यौवनमें विषयका उपार्जन, भोग हो; अधेड़ होनेके बाद त्यागका अभ्यास हो और मृत्युसे पहले समाधिमें स्थित होनेका अभ्यास कर लेना चाहिए। तो, 'आश्रम' शब्दका अर्थ है—मर्यादित श्रम। अब हम पढ़ें भी और विवाह करके भोग भी करें, तो वह नहीं बनेगा। क्योंकि विवाह करनेसे रुचि भोगमें जायेगी और पढ़नेमें रुचि कम हो जायेगी और पढ़नेमें रुचि ज्यादा हो जायेगी, तो गृहस्थाश्रम बिगड़ जायेगा। इसलिए अपने यहाँ आश्रमकी व्यवस्था की हुई थी।

शिक्षा प्राप्त करनेका जो आश्रम है, उसको ब्रह्मचर्य आश्रम बोलते हैं। पहले शिक्षा भी गुरुकुलमें, ऋषिकुलमें रहकर प्राप्त की जाती थी। इसका अर्थ होता है कि परिवारमें रहनेके कारण, परिवारके लोगोंका भला-बुरा प्रभाव; राग-द्वेष—परिवारकी किसीसे दुश्मनी हो तो बच्चेके मनमें भी न भर

जाये, परिवारकी किसीसे मुहब्बत हो तो बच्चेके मनमें भी न भर जाये; घरमें रहकर पक्षपात न सीख ले कि केवल इतने लोग हमारे हैं और बाकी पराये हैं। और जब गुरुकुल और ऋषिकुलमें रहकर शिक्षा प्राप्त की जाती थी तब बच्चेमें ममता, पक्षपात, क्रूरता—सब अपने-आप कम हो जाते। माने हमारे बालक पारिवारिक राग-द्वेषसे मुक्त रहते, स्वावलम्बी बनते। इसके अलावा ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही बालकोंको कैसे सन्ध्या-वन्दन करना, कैसे गायत्री जप करना, कैसे खाना, कैसे पीना—सब सिखाया जाता। विद्याध्ययनका अर्थ केवल पोथी पढ़ना नहीं होता; बल्कि अपने जीवनके लिए जो भी उपयुक्त शिक्षा हो, उसके निर्माणकी प्रक्रिया सीखना होता था! श्रीकृष्ण और सुदामाके लिए आपने सुना ही होगा—जब वे गुरुकुलमें रहते थे तो लकड़ी लानेके लिए वनमें जाया करते। आप सोचो—यदि आपका बच्चा गुरुकुलमें या ऋषिकुलमें रहे और उसको जीवनके प्रारम्भसे ही स्वावलम्बी होनेकी शिक्षा मिल जाये तो वह आगे चलकर कितनी उन्नति, कितना उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सम्बन्धसे रहित, असंगताके वातावरणमें नये-नये लोगोंके साथ रहकर स्वावलम्बी होना और नयी-नयी विद्या सीखनेकी यह प्रणाली बहुत ही उत्तम है।

ब्रह्मचारीको 'अग्नि' बोलते हैं—अग्नि।

उत्तिष्ठध्वं जागरध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः।

अरे ओ प्रतिभाशाली पुरुषो! उठो, जागो और अपने जीवनमें अग्निका आवाहन करो, अग्नि-होत्र करो और अग्निके जो गुण-धर्म हैं—दुर्धर्ष होना, किसीसे अभिभूत न होना, गुण-दोषको भस्म करके रहना, प्रकाश देना, ताप देना—अपने जीवनमें धारण करो!

असलमें, अग्निकी आराधनाकी प्रधानतासे ब्रह्मचर्य-आश्रम होता है और इसमें अरण्यायन, सत्रायण, अनाशकायन, अन्नोत्पादन और तालाब बनाने आदिकी सारी प्रक्रिया सिखायी जाती है। अरण्यायन माने फूल-पौधे

लगाना, वृक्ष लगाना, वनमें कैसे रहना; सत्रायन माने सत्सङ्गमें रहना; अनाशकायन माने व्रत कैसे करना और भूखे भी रहना पड़े तो कैसे रहना और अपने मित्रोंके साथ, अपने गुरुजनोंके साथ कैसे व्यवहार करना—यह सारी शिक्षा ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही दे दी जाती है। माने—गृहस्थाश्रमके श्रमसे बचकर, विद्याध्ययन और अपने चरित्रका निर्माण करना—मुख्यरूपसे ब्रह्मचर्य आश्रममें होता है।

इसके बाद आता है—गृहस्थाश्रम! एक बात मैं बीचमें ही बोल देता हूँ—जिसका वीर्य बाल्यावस्थामें परिपुष्ट नहीं होगा, उसका मस्तिष्क कमजोर हो जायेगा और आँखें भी कमजोर हो जायेंगी। यह बात बच्चोंको मालूम नहीं पड़ती हैं, क्योंकि इसका असर पहले दिखायी नहीं पड़ता है, पर शरीरमें जो अन्नका परिपाक होते-होते चरम धातु, माने अन्तिम धातु बनती है या ऐसा समझो कि चालीस दिनके भोजनसे एक बूँद वीर्यका जो निर्माण होता है—चाहे स्त्रीका शरीर हो, चाहे पुरुषका—वह नष्ट हो जाता हैं, मन भी निर्बल हो जाता है। आजकल एक रोगका नाम सुननेमें आता है, स्त्री पुरुष सभी बताते हैं—'डिप्रेशन' हो गया है—तो 'डिप्रेशन'का हेतु भी वीर्यकी निर्बलता ही है। तो, इसको सुरक्षित रखनेके लिए उत्तम वातावरणमें रहना चाहिए और वीर्यका संचय करना चाहिए और फिर प्रवृत्ति मार्गमें जिसमें कर्म करनेका उत्तम सामर्थ्य हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिए।

गृहस्थाश्रमका सामान्य रूप जैसा माना जाता है, उसका शास्त्रीय स्वरूप वैसा नहीं है। असलमें गृहस्थाश्रम भोगका आश्रम नहीं, योगका आश्रम है। एक पुरुषका अनेक स्त्रीके साथ सम्बन्ध न हो, एक स्त्रीका अनेक पुरुषके साथ सम्बन्ध न हो; मनुष्य मर्यादाके अनुसार, संयमके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करे—इसके लिए विवाह होता है। और धर्मपूर्वक हुए विवाहमें यह निष्ठा होती है कि अब आजीवन इसी स्त्री, इसी

पुरुषके साथ रहना है। इससे जीवनमें स्थिरता आती है, विश्वसनीयता आती है, जबकि कानूनी रीतिसे जो सम्बन्ध होता है, विवाह होता है उसमें स्थिरता आना कठिन रहती है, मनमें रहता है रजिस्ट्रीसे विवाह हुआ है, जब चाहेंगे तब तलाकके लिए दरखास्त दे देंगे, तलाक दे देंगे। देखो, धर्म होता है अन्तरङ्ग। जब धर्मके द्वारा विवाहका सम्बन्ध जुड़ेगा तब वह स्थिर होगा। कानूनी और रजिस्ट्री विवाह—'लव-मैरेज' अरे, हमको तो आज नाम याद आगया, नहीं तो मैं भूल गया था—ये होते हैं बहिरङ्ग, इसमें स्थिरता नहीं होती है। पहले तो मालूम पड़ता है कि बहुत स्थिर है, पर बादमें बात-बातमें मतभेद, मनमुटाव होने लगता है और तब—हम क्या तुमसे कुछ कम हैं—दोनोंमें झगड़ा हो जाता है और फिर तलाक होते देर नहीं लगती। धर्मपूर्वक हुए विवाहमें जल्दी ऐसा नहीं होता।

पहले जैसे लड़कोंके लिए ऋषिकुल और गुरुकुल होता था और ब्राह्मण बालकको ८ वर्षकी उम्रमें, क्षत्रिय बालकको १० वर्षकी उम्रमें और वैश्य बालकको १२ वर्षकी उम्रमें ऋषिकुलमें, गुरुकुलमें भेज देते थे—अपने धर्मकी अपनी परम्पराकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए, वैसे ही लड़कियोंके लिए भी ऋषिकुल, गुरुकुल तो होता था, पर लड़कियोंको वहाँ न भेजकर ससुराल भेज दिया जाता था, जिससे वे अपने ससुरालकी रीति रिवाज, परम्परा सीख जायें, जान जायें। और इसी वजहसे पहले छोटी अवस्थामें विवाह करनेकी प्रथा थी।

'अनिर्वचनीयता' पर शिकागोमें दिया हुआ स्वामी विवेकानन्दजीका एक व्याख्यान है—वेदान्तमें इसको 'अनिर्वचनीय' बोलते हैं—उसमें यह प्रश्न उठा कि लड़के-लड़कीका विवाह छोटी उम्रमें करना चाहिए या बड़ी उम्रमें? उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'मनुस्मृति'के अनुसार लड़केका विवाह तो बहुत बड़ी उम्रमें होना चाहिए और लड़कीके विवाहके लिए उन्होंने अपने इस व्याख्यानमें दो पक्ष रखे। एक—यदि लड़कीका विवाह छोटी उम्रमें कर

दिया जाय और लड़की विधवा हो जाये तो लड़कीके लिए भारतवर्षमें बड़ा भारी संकट है, बड़ी भारी तपस्या है और यदि लड़कीकी उम्र बहुत बड़ी कर दी जाये, माने लड़कीका विवाह बड़ी उम्रमें किया जाये, तो उतनी उम्रतक उसके चरित्रकी रक्षा होना बहुत कठिन है। अनिर्वचनीयता उन्होंने सिद्ध की—छोटी उम्रमें विवाह होगा तो सौभाग्यकी रक्षा बड़ी कठिन है और बड़ी उम्रमें विवाह होगा तो चरित्रकी रक्षा कठिन है। इसलिए अब हम किसको अच्छा कहें और किसको बुरा?

अब आप सोचिये कि भारतीय दृष्टिकोण अथवा जिसको वैदिक दृष्टिकोण कहते हैं—उसमें चरित्रकी रक्षापर सबसे अधिक बल दिया हुआ है। हमारा चरित्र पवित्र होना चाहिए। पवित्र चरित्र ही विश्वसनीय होता है और विश्वास ही गृहस्थाश्रमका आलम्बन है। यदि किसी स्त्रीके बारेमें यह ख्याल हो जाये कि इसका पर-पुरुषसे प्रेम है अथवा किसी पुरुषके बारेमें यह ख्याल जो जाये कि इसका पर-स्त्रीसे प्रेम है तो दोनोंका (पति-पत्नीका) परस्पर विश्वास कम हो जायेगा और यदि विश्वास ही कम हो जायेगा तो प्रेम कभी रह नहीं सकता, क्योंकि प्रेम तो रहता ही है विश्वासके आधारपर, विश्वास टूटा तो प्रेम टूटा। प्रेमका बाप है—विश्वास और प्रेमकी पत्नी, अर्द्धाङ्गिनी है—सेवा। तो जिससे प्रेम होगा, उसपर विश्वास होगा और जिससे प्रेम होगा, उसको सुख पहुँचानेकी इच्छा अपने-आप बनी रहेगी-इसको कैसे सुख मिले, इसको कैसे सुख मिले!

तो विवाह केवल स्त्री-पुरुषके सहवासके लिए अथवा पलटन-पर-पलटन पैदा करनेके लिए नहीं होता है। यह धर्मका बन्धन है और अपने जीवनमें संयम लानेके लिए है, प्रेम लानेके लिए है, विश्वास लानेके लिए है और सेवा करनेके लिए है। भागवतमें तो लिखा है कि अपने घरका सारा भार पत्नीपर छोड़कर, पुरुष निश्चिन्त होकर अपने कर्त्तव्य पालनमें लग जाता है—'धन्यो गृहस्थाश्रमः'—गृहस्थाश्रम धन्य है। एक दूसरेपर इतना

विश्वास, इतना प्रेम, इतनी निर्भरता, इतनी सेवा—धर्मके बिना कहाँ-से आ सकती है।

गृहस्थाश्रमका आरम्भ कन्यादानसे होता है। तो कन्यादानका भी अर्थ होता है, जो आजकलके लोगोंके दिमागमें नहीं आता है। वे कहते हैं कि 'दान' कैसा? असलमें तो कन्या-दानका सम्बन्ध छोटी उम्रके साथ ही है। बड़ी उम्र हो जानेके बाद तो मनुस्मृतिमें स्पष्ट लिखा है कि माता-पिता विवाह न करते हों, तो लड़कीको स्वयं विवाह कर लेना चाहिए।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत.....विन्देत सदृशं पतिम्।

यह भी मनुस्मृतिमें (९.९०) लिखा है कि यदि योग्य पति न मिले तो कन्या आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सकती है।

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे गुणहीनाय न कर्हिचत्।

भले ही कन्या आजीवन कुमारी रहे, ब्रह्मचारिणी रहे, परन्तु अयोग्य पुरुषके साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

गृहस्थाश्रमके विषयमें आप यह बात अपने ध्यानमें रख लें कि गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंका मूल और आश्रय है और विश्वास, प्रेम और सेवाकी भूमि है। मनुष्य यहीं आकर 'भोग'में 'योग'को रखता है। पहले हम स्त्री-पुरुषके सम्बन्धकी बात करेंगे तो अच्छा होगा; परन्तु उसके पहले माता-पिताकी बात कर लेना अधिक अच्छा रहेगा। मुझे पहले बताया गया था कि हर देशमें, हर प्रान्तमें, हर जिलेमें, हर गाँवमें, हर घरमें एक सन्त होता है—एक सत्पुरुष होता है या एक सन्माता होती है और उसीके प्रभावसे पूरा परिवार बँधकर एक साथ रहता है। उदाहरणके लिए आपको सुनाता हूँ—सुनाया तो पहले भी होगा कि हमारे गाँवके पास एक ७०-७५ व्यक्तियोंका परिवार रहता था। भाई-भतीजे, बेटे-पोते सब थे। जो घरके बड़े सज्जन थे, उनका नाम था—माधो सिंह। क्षत्रिय थे, हमारे पितामहके शिष्य और पितामहकी मृत्युके बाद हमारे

पास आया करते थे। थे तो उम्रमें हमसे बड़े, पर बैठते नीचे ही थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा—'बाबूजी, आप इतने बड़े परिवारको सम्हाल कर कैसे रखते हैं? उन्होंने बताया कि 'मैंने घरमें व्यवस्था कर दी है कि सबेरेका नाश्ता कौन बनायेगा, दोपहरका भोजन किसके जिम्मे, रात्रिका भोजन किसके जिम्मे, खेती कौन देखेगा, गृहस्थी कौन देखेगा और मेरा अपना नियम यह है कि घरके सब लोग जब तक भोजन नहीं कर लेते, मैं नहीं खाता! मेरा यह नियम बारहो महीने चलता है। जब मैं पता लगा लेता हूँ कि बच्चे-बच्चेने भोजन कर लिया है, तब मैं खाता हूँ। अब भला बताओ आप कि ऐसा परिवार बँधकर कैसे नहीं रहेगा? लड़ाई तो तब होती है न, जब अपने बेटेका तो पक्षपात करेंगे और अपने भाईके साथ अन्यथा करेंगे। असलमें गृहस्थाश्रम संयमका, योगका आश्रम है।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

स्त्रीमात्रको माँके रूपमें देखना, पुरुषमात्रको पिताके रूपमें देखना, जिससे कुछ भी शिक्षा ग्रहण की है उसको गुरुके रूपमें देखना—यहीं सिखाया जाता है। अपने बड़ोंका आदर करना, छोटा बनना नहीं है; बल्कि यही बड़ा होनेका उपाय है, साधन है! महिम्नःस्तोत्रमें आया है—

न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः।

जो शंकरजीके सामने सिर झुकाता है, उसको सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त होती है, वह ऊँचा हो जाता है! बड़ोंके प्रति जो आदरका भाव है, वह मनुष्यको बड़ा बनाता है। मनु भगवान् कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपजीविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

कि जिसको नमस्कार करनेका अभ्यास है, माने जो नमस्कार करता हुआ, हाथ जोड़ता हुआ चलता है और बड़े-बूढ़ोंके पास बैठकर उनकी कुछ सेवा करता है, उनसे कुछ सीखता है, उसके जीवनमें चार बातें आती हैं—'आयुर्विद्यायशोबलम्'—उसकी आयु लम्बी हो जाती है,

उसका ज्ञान बढ़ता है, उसका यश बढ़ता है और उसके शरीरमें बलकी वृद्धि होती है।

मनुस्मृतिमें जहाँ यह बात कही हुई है कि बड़ेको देखकर उठकर खड़ा जो जाना चाहिए, वहाँ यह भी बताया गया है कि बड़ेको देखकर खड़े होनेका अर्थ क्या है? वह यह है कि जिस प्रकार प्रकृतिका नियम है कि बड़ी वायुसे हमारे प्राण मिले रहते हैं, बड़ी चेतनाके साथ हमारी चेतना मिली रहती है, इसी प्रकार—

उर्ध्वं प्राणा उत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति

जब किसी जवान आदमीके सामने कोई बूढ़ा आता है जब उसके प्राण उसका स्वागत करनेके लिए उठते हैं। तो जो आदमी अपना शरीर ही उठा देता है—यह नहीं कि प्राण तो उठ गये और शरीर बैठा रहा—इससे तो प्राण और शरीरकी शक्ति अलग-अलग हो जाती है और—

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।

यदि बड़ेको देखकर हम खड़े हो जायें तो हमारा आलस छूट जाता है, निद्रा छूट जाती है और प्रमाद छूट जाता है। और इससे शरीरकी शक्ति क्षीण नहीं होती; बल्कि शक्ति बढ़ जाती है। और हाँ, जिससे आपकी अनबन हो, वह यदि आपके घरमें आजाये, तब तो अवश्य ही उठकर खड़ा होना चाहिए और अपनेसे ऊपर बैठाकर उसका स्वागत-सत्कार करना चाहिए। यह नहीं कि जिससे अनबन है, उसके आनेपर हम अपना दिल कड़ुआ कर लें, बिगाड़ लें। सावधान! आप हमेशा सावधान रहिये! सावधान रहनेसे आपके जीवनमें आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, प्रमाद आदिको आनेका कभी मौका नहीं मिलेगा। बस, सावधान रहें!

आजकलकी पत्नियोंकी बात हमको मालूम है—उनके पति जब बाहरसे आते हैं, वे मौजसे पाँव फैलाकर बैठी रहती हैं। अब पति न जाने कहाँ-कहाँसे काम करके आते हैं—कहाँ व्यापार में उनका नफा हुआ, कहाँ घाटा हुआ, कहाँ सम्मान मिला, कहाँ अपमान मिला, कहाँसे सुखी होकर

आये, कहाँसे दुःखी होकर आये—तो घरमें आते ही उनको आदर तो मिलना चाहिए न! एक मुस्कान तो मिलनी चाहिए न, ताकि बाहरका जो श्रम है, जो मानापमान है, वह मिट जाये। ऐसा नहीं कि स्वयं पाँव फैला कर बैठे ही रहें और बैठे-बैठे ही उनसे कह दें कि आज तुम खुद ही चाय बना लो। नहीं, बाहरसे पति आवे तो उसका स्वागत करना चाहिए, उसके खाने-पीनेकी व्यवस्था करनी चाहिए। पहले तो पत्नी इन्तजार करती रहती थी, पति कब आवे, कब आवे! तो यह जो परम्पराका सम्बन्ध है यह गृहस्थाश्रममें ही होता है और गृहस्थाश्रम ही हमारे जीवनको नम्रताकी, पौरुषकी, उत्साहकी, सावधानीकी शिक्षा देता है।

माँकी बात आपको क्या सुनावें? हम तो घरसे साधुओंके साथके लिए बिना बताये ही बार-बार चले जाते थे और दो-दो, तीन-तीन, चार-चार दिन बाद लौटकर आते। माँ इससे बहुत नाराज रहती थीं। कहाँ चले गये, कहाँ चले गये? और जब वापस आता, तब क्या करता, बताऊँ? ढोंग। आकर आँगनमें पाँव फैलाकर बैठ जाता और कहता कि बहुत भूखा हूँ, दो दिनसे हमको रोटी खानेको नहीं मिली है। बस, माँकी तो सारी नाराजगी उसी समय धुल जाती। वह नाराज होवे कि पहले मेरे लिए खाने-पीनेको ले आवे। और फिर खिलाने-पिलानेमें उसकी सारी नाराजगी मिट जाया करती।

आप कहाँ रहते हैं? माँके हाथके भोजनमें जो सुख मिलता है, पत्नीके प्यारमें जो सुख मिलता है, वह क्या अविश्वसनीय वातावरणमें कभी मिल सकता है? हमको जब लोग सुनाते हैं कि आजकल क्लबोंमें क्या होता है, होटलोंमें क्या होता है, चाभी बदली जाती है—आपको तो सब पता ही होगा—जब पति-पत्नी दूसरेके साथ जाते हैं, तब वे घरमें कैसे विश्वासपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं—यह बात अभी तक हमारी बुद्धिमें नहीं आती है। वैसे हमने सुना है कि सब तरहके लोग जाते हैं, नये ढंगके भी, पुराने ढंगके भी।

अब एक बात इसी (जे. के.) परिवारकी ही सुना देता हूँ। कौन-सी माता थीं, यह तो मुझे याद नहीं है—माँजी थीं या बड़ी बहूजी थीं—दोनोंमें-से कोई एक थीं—मेरे साथ मोटरमें कहीं चल रही थीं—रास्तेमें खड़े लोगोंको हाथ जोड़ें। मैंने पूछा—'माँजी, आप इन दुकानपर चाय पीनेवालोंको, गेरुआ कपड़ा पहननेवालोंको, बीड़ी पीनेवालोंको क्यों हाथ जोड़ती हैं? वे बोलीं—'हम लोगोंको हाथ जोड़नेका मौका ही कहाँ मिलता है? इन लोगोंको देखकर हाथ जोड़नेसे कम-से-कम हाथ जोड़नेका अभ्यास तो बना रहेगा। वे लोग कैसे हैं इससे हमारा क्या मतलब? हमारी आदत अच्छी रहनी चाहिए!'

इसके विपरीत एक देवी हैं जो बोलती हैं कि वे जब हमारे घरमें चोरी करते हैं तब हम क्यों नहीं उनके घरमें चोरी करें? वे जब हमको गाली देते हैं, तब क्यों नहीं हम उनको गाली दें? माने वे चोर हैं तो हम भी चोर हो जायें और वे दुष्ट हैं तो हम भी दुष्ट हो जायें। नहीं भाई, अपनी साधुताकी रक्षा तो होनी चाहिए न! दूसरेके चोर होनेसे हम क्यों चोर हों? दूसरेकी बराबरी करनेके लिए हम क्यों बुरे हों?

आपको एक और बात सुनाता हूँ। संन्यासी होनेके बाद 'कल्याण'—परिवारको एक बार हमारी आवश्यकता पड़ गयी—भागवतके संस्कृतके श्लोकोंका हिन्दी अनुवाद करनेके लिए—उन्होंने मेरे पास वृन्दावन आदमी भेजा, मुझे गोरखपुर ले जानेके लिए। रास्तेकी सब व्यवस्था भी कर दी! पर बीचमें पड़ता था कानपुर और गाड़ी भी वहाँ बदलनी थी या शायद लखनऊमें बदलनी थी, तो मैं सबेरे कानपुर उतर गया और गंगा-स्नानके पश्चात् दिन भर जे.के. हाउस, गंगा कुटीरमें रहा—वहीं मैंने भोजन किया, वहीं विश्राम। शामको जब गोरखपुरके लिए रवाना होने लगा तब माँजी कुछ रुपये देने लगीं। मैंने कहा—मुझे रुपयोंकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि गोरखपुरवालोंने सब व्यवस्था कर दी है, आदमी भेज दिया है और उसीके साथ मैं जा रहा हूँ। क्या सुनावें आपको! वे बोलीं कि 'जब आपको

आवश्यकता होगी, जब आप माँगते होंगे, भिखारी होंगे तब मैं आपको रु दूँगी? आपकी जरूरतको देखकर मैं रुपये नहीं देना चाहती, मेरे हृदयकी जरूरतको देखकर मैं रुपये देना चाहती हूँ! यह मेरे हृदयकी जरूरत है। यदि मैं आपको यहाँसे कुछ दिये बिना ही भेज दूँगी तो मेरे हृदयमें खटकता रहेगा। मैं अपना खटका दूर करनेके लिए आपको रुपये देती हूँ, आपकी जरूरत पूरी करनेके लिए नहीं देती। दादा था मेरे साथ। यह बात उन्होंने दादासे कही थी और निश्चय ही यह सन् ५० के पहलेकी, बाबाके सामनेकी होगी। यह यह होता है—माताका हृदय। उन्होंने हमें अपना चौथा बेटा माना। जैसे पद्मपत, कैलाशपत, लक्ष्मीपत, वैसे ही मैं! तो यह जो मातृत्व है यह आपको गृहस्थाश्रमके बगैर कहाँ मिलेगा? यदि गृहस्थाश्रम न हो तो क्या कोई ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी या संन्यासी आपको यह मातृत्व दे सकता है? कालिदासने तो सौन्दर्यकी परिभाषा ही यह की है कि अपने प्रियको सौभाग्यशाली बना देना ही सुन्दरता है।

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

अपने प्रियको भाग्यशाली बना देना सबसे बड़ा सौन्दर्य है!

आपको एक गाँवकी बात सुनाता हूँ, वहाँ सब आर्य-समाजी ही-आर्य-समाजी थे और साधुओंके साथ खूब वाद-विवाद करते थे। हम भी खूब भोग चुके हैं। एक बार मैं गंगाके किनारे नहरके किनारे-किनारे घूमते-घूमते थक गया, किसीने आधा घंटातक हमको गुरुकुलमें बैठने नहीं दिया। प्रश्न-पर-प्रश्न करते जा रहे थे—'क्यों साधु हुए हो? क्यों धरतीके भार हुए हो? कमाई क्यों नहीं करते हो? जब आधा घंटातक शास्त्रार्थ कर लिया मैंने और जब उनके आचार्यने आकर कहा कि 'भाई, अतिथि हैं, वर्षाके दिन हैं, सायंकालका समय है, इनको बैठने दो और इनके खाने-पीनेका बन्दोबस्त करो', तब उन लोगोंने मुझे बैठने दिया और मेरे खाने-पीनेका बन्दोबस्त किया। तो उस गाँवमें लोग साधुओंसे बहुत लड़ते थे। इत्तफाकसे एक बार बाबा पहुँच गये उस गाँवमें। लोगोंने उनसे पूछा—'साधु बड़ा कि गृहस्थ?'

बाबा बोले—'गृहस्थ बड़ा होता है। देखो, तभी तो हम तुम्हारे यहाँ रोटी लेनेके लिए आये हैं। यदि हम तुमको बड़ा नहीं मानते, तो तुम्हारे घर रोटी लेनेके लिए क्यों आते!' बाबाके इस उत्तरका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा—'यह साधु बहुत बढ़िया है, गृहस्थोंको बड़ा बताता है। इसलिए इसे अच्छी रोटी मिलनी चाहिए' और बाबाको बहुत अच्छी रोटी मिल गयी! अब जब गाँवसे बाहर बाबा निकले, तो देखा उन्होंने सामने एक अच्छा घना पेड़ है और गंगाका किनारा तो था ही, अतः वहीं पेड़के नीचे ठहर गये। दूसरे दिन फिर गाँवमें जाकर भिक्षा माँग लाये और तीसरे दिन फिर। फिर तो गाँववाले स्वयं उनके पास भिक्षा पहुँचाने लगे और बाबा वहाँ कई महीने रह गये! और उनकी आचार सम्बन्धी—आचार कैसा होना चाहिए, वेद सम्बन्धी और निराकार सम्बन्धी चर्चा सुनकर गाँव-का-गाँव उनका भक्त हो गया।

तो भाई मेरे, गृहस्थाश्रम बहुत बड़ी वस्तु है; क्योंकि रोटी मिलनेकी आशा तो इसीमें रहती है। वेदोंमें तो स्पष्ट आज्ञा है—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

यह जो अपने ऊपर पितृऋण है—ब्रह्मासे लेकर तुम्हारे पिता-पर्यन्त जो परम्परा चल रही है, उसको तोड़ो मत। ब्रह्माजीसे लेकर तुम्हारे पितातक या तुमतक बच्चे तो होते ही आये हैं। यदि ब्रह्माजीसे तुम्हारे पितापर्यन्त बच्चे नहीं होते, तो तुम कैसे होते? तो यह जो प्रजाकी ताँत, प्रजाकी कड़ी, सन्तानकी कड़ी ब्रह्मासे अबतक जुड़ी आयी है, इसको तोड़ो मत। कम-से-कम एक पुत्र तो होना ही चाहिए।

अब गृहस्थाश्रमसे सम्बन्धित कोई और प्रश्न हो तो पूछें। असल में मैं तो भूल ही गया कि प्रश्न क्या था!

: २ :

२६-११-८५

प्रश्न—पूज्य महाराजजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए 'धन्यो गृहस्थाश्रमः'की प्रवचन मालाके द्वितीय दिवसपर, आजका प्रथम प्रश्न है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।

गीताके इस सिद्धान्त वाक्यको गृहस्थजीवनमें कैसे उतारें—कृपया समझायें!

उत्तर—'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च'—इस आदेश या सन्देशकी पूर्णता तो तभी हो सकती है, जब या तो आपको सब परमात्मा ही मालूम पड़े—जो कुछ है सो सब भगवान् है और या भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं—बस, भगवान्-ही-भगवान्, भगवान्-ही-भगवान्—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।

अथवा

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।

सब परमेश्वर है या परमेश्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है और **'सर्वेषु कालेषु मामानुस्मर युद्ध च'**—काल चाहे कोई भी हो, उसमें भगवान् हैं और भगवान्‌में ही सारे कर्म हो रहे हैं, यह मालूम पड़े। और यदि आपको पूर्णता मालूम न पड़ती हो, तो आप इस पूर्णताकी प्राप्तिके लिए जीवनमें साधन कर सकते हैं और वह साधन है—इसके लिए प्रयास। आप प्रयास करते रहिये—पहले आप अपनी मातामें परमात्माको देखिये, पितामें परमात्माको देखिये, गुरुमें परमात्माको देखिये। वैसे देखने, स्मरणके लिए निमित्त तो बहुत हैं, पर हमारे पास वह मन ही नहीं है। आप देखें—पृथिवीमें-से जो पवित्र गन्ध निकलती है, वह परमात्माका स्वरूप है—**'पुण्यो गन्धः पृथ्वियां च'**—पर कहाँ स्मरण होता है? **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'**—जलमें रस मैं ही हूँ—भले ही नींबू, इमलीमें खट्टा हो जाये और आँवलेमें कषैला हो जाये और गन्नेमें मीठा हो जाये—हैं सब रस और मेरे ही अनेक रूप। अच्छा, सूर्य है—परमात्माका रूप है; चन्द्रमा है—परमात्माका रूप है। **'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।'** सूर्यमें जो प्रकाश है, ताप है वह भी परमात्मा ही है और चन्द्रमामें जो चमक है, चाँदनी है वह भी परमात्मा है। हमलोग वेद-मन्त्रका पाठ करते हैं—

वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।

हे वायु देवता, तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। साँसके रूपमें परमात्मा हमारे शरीरमें प्रवेश करता है, निकलता है—हमारे इस जीवनमें प्राणोंपर बैठकर झूला झूलता रहता है—भीतर-बाहर, बाहर-भीतर। और आकाशके रूपमें—**'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'**—परमात्मा है।

मनो ब्रह्म इत्युपासीत।

मन परमात्मा है। सभी वस्तुओंका ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा होता है, वहाँ ज्ञान परमात्मा है; मनमें प्यार आता है, वहाँ प्यार परमात्मा है; बुद्धिमें विचार आता है, वहाँ विचार परमात्मा है।

विज्ञानं ब्रह्म, विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात।

आनन्द ब्रह्म है और आत्मा ब्रह्म '**इत्युपासितः**'—आत्मा ब्रह्म है। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'—सब ब्रह्म है। इस तरह परमात्मा हर जगह है, हर समय है और हर वस्तुके रूपमें है—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय-स्थितः**'। और परमात्माके स्मरणमें कहीं कोई बाधा नहीं है। अपनी प्रीति हो, अपनी रुचि हो तो कहीं भी, किसी अवस्थामें भी परमात्माका स्मरण हो सकता है और विशेष करके गीताके आधारपर। गीतामें भगवान् कहते हैं—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

हे अर्जुन, अमृत मैं हूँ, मृत्यु मैं हूँ, सत् मैं हूँ और असत् भी मैं ही हूँ। अब आप बताओ कौन-सी ऐसी चीज रह गयी जो परमात्मा नहीं है।

ऐसी स्थितिमें, पहली बात यह हुई कि परमात्माके स्मरणमें जो बाधा है वह जीवकी ओरसे है, परमात्माकी ओरसे नहीं है। महाभारत-युद्धमें जब भीष्मपितामह और अर्जुन दोनों युद्ध कर रहे थे, तब भीष्मपितामहने अर्जुनको ऐसे-ऐसे बाण मारे कि बाण लगे तो अर्जुनको और व्याकुल हों श्रीकृष्ण। और जब व्याकुलता अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी तब श्रीकृष्ण सारथिका कार्य छोड़कर रथसे उतर पड़े और हाथमें उठाकर रथका पहिया दौड़ पड़े भीष्मपितामहको मारने—

वा पट पीतकी फहरान।

और

हरिरिवि हन्तुं गतौ उत्सरयः।

ठीक वैसे ही जैसे सिंह हाथीको मारने झपटे; पीताम्बर धरतीपर गिर पड़ा, पर श्रीकृष्णको कहाँ इसका ख्याल और ऐसे समयमें भी भीष्म बोलते हैं—

एह्योहि देवेश जगन्निवास प्रसह्य मां पातय लोकनाथ।

आइये प्रभो, आइये! मुझे चक्रसे मारकर रथसे गिरा दीजिये! तो भीष्म मृत्युके रूपमें भी श्रीकृष्णको दौड़ते हुए देखकर भी उनको भगवान्‌के रूपमें पहचानते हैं। महाभारतमें ही ऐसा भी आया है एक जगह कि भीष्म पितामह श्रीकृष्णको पहचानते हुए भी उनपर ऐसे बाण चलाते हैं कि श्रीकृष्णका शरीर खूनसे लथ-पथ हो जाता है। तो, जिसके हृदयमें भक्ति है, प्रीति है, रस है, रुचि है वह सर्व अवस्थामें परमात्माको देख सकता है।

आप ऐसे भी देखो न, कि भगवान् चोर बनकर अपने ही घरमें चोरी करने आये हैं। बहुत बढ़िया! पर, चोर बनकर क्यों आये? यों आये कि उनका मन पुलिससे पकड़ जानेका है, चार गाली सुननेका है, चार चपत खानेका है—कभी-कभी भगवान्‌का मन ऐसा भी हो जाता है और तब वे वैसा ही बन जाते हैं। तो तुम जिस रूपमें वे आवें, उस रूपमें उनका वैसा ही स्वागत करो जैसा स्वागत करना चाहिए। चोरके रूपमें आवे तो जैसे चोरका स्वागत करना चाहिए—जैसे गोपियाँ करती थीं—'चोर-चोर' करो, उनको खदेड़ो और मारनेवालेके रूपमें आवें तो भीष्म पितामहकी तरह उनका स्वागत करो! कहनेका मतलब यह है कि यदि आपको सर्वरूपमें परमेश्वरको पहचानना है, तो आप उनको मिट्टीके रूपमें पहचानो, पानीके रूपमें पहचानो, पेड़-पौधेके रूपमें पहचानो।

दो चार दिन पहले ही एक सज्जन पूछ रहे थे कि भगवान् जब अवतार लेते हैं तब राजकुमारका ही अवतार क्यों लेते हैं? मैंने कहा—'अरे भाई, भगवान् तो मछलीका अवतार लेते हैं, कछुएका अवतार लेते हैं, घोड़ेका अवतार लेते हैं, शेरका अवतार लेते हैं। यहाँतक कि सूअरका भी अवतार लेते हैं। तुम तो बस, भगवान्‌का स्मरण करते जाओ और अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाओ।' 'इससे क्या होगा?' 'इससे यह होगा कि तुम्हारे धर्ममें, कर्ममें, आचरणमें कोई गड़बड़ी नहीं होगी और भगवान्‌के स्मरणका रस हृदयमें बना रहेगा।' **धर्मानुकूल और मामनुस्मर युद्ध च।** '**युद्ध च**'—

माने अपने कर्तव्यका पालन। भगवान्‌का स्मरण करो और अपने कर्तव्यका पालन करते जाओ। अच्छा, क्या घरमें झाड़ू लगाते समय यह नहीं सोचा जा सकता कि हम घरको साफ कर रहे हैं, ताकि भगवान् इसमें चहलकदमी करें? क्या रोटी बनाते समय यह नहीं सोचा जा सकता कि इस रोटीका हम भगवान्‌को भोग लगायेंगे? क्या यात्रा करते समय यह नहीं सोचा जा सकता कि हम भगवान्‌का दर्शन करने जा रहे हैं? क्या भोजन करते समय यह नहीं सोचा जा सकता कि हम भगवान्‌को ही भोग लगा रहे हैं? क्या सोते समय यह नहीं सोचा जा सकता कि हम भगवान्‌को अपने हृदयसे लगाकर सो रहे हैं? असलमें तो भाई—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च**'—में तो कहीं, किसी प्रकारकी कोई बाधा नहीं है। बाधा है तो अपनी रुचिकी है, अपनी प्रवृत्तिकी है, अपने काम करनेकी पद्धतिकी है। काम करते चलो और साथ-साथ राम-राम भी करते चलो। रोटी भगवान्‌के लिए भी बनायी जा सकती है और दुश्मनके लिए भी बनायी जा सकती है। पर, भावमें भेद हो जायेगा। भगवान्‌के लिए बनायेंगे तो खुशी-खुशीसे बनायेंगे और दुश्मनके लिए बनायेंगे तो रोते हुए बनायेंगे आप जैसा चाहें, कर सकते हैं। सच्चाई यह है कि कर्त्तव्य-पालनमें भगवान्‌का स्मरण बाधक नहीं है और भगवान्‌का स्मरण करनेमें कर्त्तव्य-पालन बाधक नहीं है।

प्रश्न—गृहस्थ पाँच हिंसाके कर्म प्रतिदिन करता है, जिसके लिए पाँच यज्ञोंका विधान है—वे क्या हैं? कृपया प्रकाश डालें!

उत्तर—देखो, अपने धर्मका, शास्त्रका जो विधान है वह किसी क्रिया, वस्तु या व्यक्तिको धर्म-अधर्म समझनेका नहीं है। जैसे, जल्लाद यदि कानूनके अनुसार किसीको फाँसीपर चढ़ाता है तो वह अपराधी नहीं माना जाता और सैनिक यदि राष्ट्रकी रक्षाके लिए या समाजकी रक्षाके लिए आततायीपर गोली चलाता है तो वह भी अपराधी नहीं होता। कहनेका

मतलब यह कि संविधानके अनुसार जो काम किया जाता है, उसको अपराध नहीं बोला जाता है। ऐसे ही, वेदमें जब स्नानका विधान है, तो उसके लिए जल तो चाहिए ही; अग्निहोत्रका विधान है, तो उसके लिए अग्नि जलानी ही पड़ेगी—तो इससे पाप नहीं लगता है। पाप तो वहाँ लगता है जहाँ विधि-विधानके विरुद्ध काम होता है।

अब रही बात यह कि घरमें कुछ पीसा जाता है, कुछ कूटा जाता है, पानी भरा जाता है, आग जलायी जाती है—तो उसमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है, कीट-पतंग मरते ही हैं—तो इसके लिए बलिवैश्वदेव करना चाहिए, पञ्च महायज्ञ करना चाहिए और पितरोंसे उऋण होनेके लिए वंश-परम्परा चलनी चाहिए, ऋषियोंसे उऋण होनेके लिए शास्त्रका स्वाध्याय करना चाहिए; देवताओंसे उऋण होनेके लिए उनकी पूजा करनी चाहिए। ये सब—बलि-वैश्वदेव, पञ्चमहायज्ञ, पितृपूजा, ऋषिपूजा, देवपूजा अपने जीवनमें कर्त्तव्य हैं। इससे हमें मानसिक सन्तोष भी रहता है और जो हमारे द्वारा मरे-जरे हैं अथवा दूसरोंका नुकसान पहुँचा है—उसका प्रायश्चित्त भी हो जाता है। यह गृहस्थ जीवनका एक आवश्यक अङ्ग है कि जिनसे लेते हैं उनको कुछ तो दें!

आइये, अब हम देखें कि हम किससे लेते हैं? हम धरतीपर रहते हैं, धरतीसे अन्न लेते हैं। आपको घरका 'हाउस-टैक्स' देना पड़ता होगा, पर पृथिवीपर रहनेका आपको कोई टैक्स नहीं देना पड़ता; हम वर्षाके पानीका उपयोग करते हैं और नलके पानीका 'टैक्स' देते हैं और वर्षाके पानीपर कोई 'टैक्स' नहीं है। आपके घरमें बिजली जलती है, उसका भी 'टैक्स' देना पड़ता है और सूर्य-चन्द्रमाकी रोशनीका आपको कोई 'टैक्स' नहीं चुकाना पड़ता। पंखा चलता है; उसका पैसा लगता है, पर साँस लेनेके लिए जो हवा हमें मिलती है उसके लिए कुछ नहीं देना

पड़ता। आप शरीरकी गन्दी हवा, सांसके द्वारा निकालकर आसमानमें फेंकते हैं और आसमानमें-से शुद्ध हवा लेते हैं और आसमानको इसके लिए कुछ नहीं देते। तो यह आप समष्टिसे शुद्ध वस्तुएँ लेते हैं और अपनी सारी गन्दगी समष्टिमें फेंकते हैं, इसके लिए आपका कुछ कर्त्तव्य होता है कि नहीं? इससे विमुख हो जानेपर ही मनुष्यके शरीरमें नाना प्रकारके रोग होते हैं और मनमें अनेक प्रकारके उद्वेग। इसलिए, इनकी शान्तिके लिए कम-से-कम आपको थोड़ा-सा स्वाध्याय करना चाहिए, सूर्य-चन्द्रमाकी पूजा करनी चाहिए, वायु देवताकी पूजा करनी चाहिए; समुद्रकी पूजा करनी चाहिए, गंगाकी पूजा करनी चाहिए और यह सब कुछ नहीं मिले तो कलशमें ही जल भरकर उसकी पूजा करनी चाहिए; अग्निकी पूजा करनी चाहिए। आप देखें, अग्निसे आप कितना काम लेते हैं—वेदके मन्त्रोंमें—'**अग्निमीळे पुरोहितं**'से लेकर, ऋग्वेद अग्नि-पूजासे ही प्रारम्भ होता है, अग्निसे घरमें रसोई बनती है और जो थोड़ा-सा अग्निमें डालनेकी पद्धति है, वह बलिवैश्वदेवके अन्तर्गत ही है। और यह बिजली जिससे आपकी फैक्टरी चलती है या पंखे चलते हैं या रोशनी आती है यह भी अग्निका ही रूप है; पेटमें जो भोजन पचता है, वह भी अग्निका रूप है—तो अग्निसे आप इतना काम लेते हैं और अग्निके लिए आपके मनमें आदर-बुद्धि नहीं है, उसकी पवित्रताके लिए आप कुछ करते नहीं है? कैसे हैं आप? उससे इतना लेते हैं और देते कुछ नहीं। लेना-लेना आता है; देना नहीं आता। कमानेकी विद्या तो आपने सीख ली और खरचनेकी विद्याकी कोई शिक्षा नहीं प्राप्त की। क्या आपको इसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती? अरे भाई, गृहस्थ-जीवनमें जो अनेक दोष आते हैं, वे केवल लेना-लेना होनेके कारण ही आते हैं। तो, यह बलिवैश्वदेव, पंच महायज्ञ, पञ्चदेवकी पूजा—ये सब जो देनेकी पद्धति हैं, ये सब गृहस्थाश्रमके ही नहीं, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थके भी कर्तव्य हैं।

प्रश्न—गृहस्थ-जीवनमें साकारकी साधना करना उचित है अथवा निराकारकी साधना भी कर सकते हैं—कृपया समझायें!

उत्तर—देखो, मजहब जो होते हैं वे किसी आचार्यके द्वारा किसी समयमें चलाये हुए होते हैं जैसे ईसाने, मूसाने, मुहम्मदने और स्वामी दयानन्द आदिने समय-समयपर चलाये, (आर्य-समाज स्वामी दयानन्दने ही चलाया) और हमारा जो वैदिक धर्म है वह किसी एक व्यक्तिके द्वारा, किसी एक समयमें चलाया हुआ नहीं है। यह सृष्टिके साथ ही है, बल्कि पहले ज्ञान होता है और पीछे सृष्टि होती है। ईश्वर भी सृष्टि तभी बनायेगा जब उसके पास पहलेसे ज्ञान होगा। ईश्वर है—जो यह मालूम पड़ेगा, यह भी ज्ञानसे ही तो मालूम पड़ेगा ना! इसलिए, निराकार-साकारका भेद तो एक छोटी बात है, बड़ी बात तो यह है कि ईश्वर है, यह भी हमारे हृदयकी ही एक वृत्ति है। और ईश्वर नहीं है—यह भी हमारे हृदयकी ही एक वृत्ति है। दोनों विश्वास करते हैं। न तो किसीने ईश्वरको नहींके रूपमें देखा है—देख सकता ही नहीं है—किसीकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती जो देशका कोना-कोना छान ले—देश माने केवल हिन्दुस्तान नहीं, देश माने पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतरका कोना-कोना छान ले और कह दे कि ईश्वर नहीं है; किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं होती जो कालके आदि और अन्तको देखकर कह दे कि ईश्वर नहीं है और ऐसी भी किसीकी बुद्धि नहीं हो सकती जो वस्तुओंकी सृष्टि और प्रलयको देखकर कह दे कि सृष्टिके पहले ईश्वर है और बादमें ईश्वर नहीं है। वह तो जो जैसी सङ्गतिमें पड़ जाता है, जैसे लोगोंकी बात सुनता है, जैसी पुस्तकें पढ़ता है, वैसी उसकी मान्यता बन जाती है। तो किसीकी मान्यता बन जाती है कि ईश्वर है और किसीकी मान्यता बन जाती है कि ईश्वर नहीं है और इन दोनों मान्यताओंका आधार है—हृदय और हृदयमें प्रकाश देनेवाला है परमात्मा।

असलमें, साकार और निराकार दोनों व्यवहारमें होते हैं। आर्य-समाजी लोग कहते हैं कि वेदोंमें निराकार ईश्वरका ही वर्णन है; सनातन-धर्मी लोग कहते हैं कि वेदोंमें साकार और निराकार दोनोंका ही वर्णन है और जो अवैदिक और भारतसे बाहर पैदा हुए सम्प्रदाय हैं, उसमें ईश्वरको केवल निराकार ही माना गया है—जैसे ईसाई और मुसलमान। सच पूछो तो, हम साकार हैं तो ईश्वर भी साकार है और हम निराकार हैं तो ईश्वर भी निराकार है। आत्मा तो सभीके मतमें निराकार है और आत्मा निराकार होकर शरीरधारी हुआ है तो परमात्मा निराकार होकर विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है। मानो जैसे आत्मा निराकार होते हुए भी एक देहके रूपमें प्रकट हुआ है, वैसे ही ईश्वर निराकार होनेपर भी सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है। तो भाई मेरे, ईश्वर साकार भी है और ईश्वर निराकार भी है।

अब आप देखिये—सब गृहस्थोंके लिए एक ही बात नहीं हो सकती। किसीकी बुद्धि निराकारपर विश्वास करती है तो किसीकी बुद्धि साकारपर विश्वास करती है। साकारवालोंको निराकार-वालोंपर डण्डा नहीं चलाना चाहिए और निराकारवालोंको साकार मूर्ति नहीं तोड़नी चाहिए। बात यह है कि ईश्वर साकार हो कि निराकार, ईश्वर-बुद्धि तो हमारे हृदयमें ही बनती है। आपको मालूम होगा कि दक्षिणी भारतमें, माने हमारे भारतवर्षमें ही मिट्टीके रूपमें पूजा होती है—काञ्चीमें मृत्तिका-लिङ्ग; जलके रूपमें पूजा होती है-श्रीरङ्गम्में आपोलिङ्ग जम्बुकेश्वर महादेव, जिसमें-से निरन्तर जल निकलता रहता है। अग्निकी पूजा है—तिरूवन्नामलाईमें, वायुकी पूजा है—कालहस्तीश्वर, तिरुपतिके पासमें और चिदम्बरमें, जो बिल्वपुरम्के पास है, पूजा होती है केवल आकाश लिङ्गकी। अब व्यक्तिगत रूपसे हमारी योग्यताके अनुसार हमारी बुद्धिके अनुसार, हमारी रुचिके अनुसार, हमारी परम्पराके अनुसार हमें देखना पड़ता है कि हमें साकारकी पूजा करनी चाहिए कि निराकारकी पूजा

करनी चाहिए और फिर उसमें कोई मनमानी नहीं करनी चाहिए। कितना सुगम है कि तुलसीपर जल चढ़ाते हैं और उससे ईश्वरकी प्रसन्नता मानते हैं। बटकी पूजा करते हैं, गायकी पूजा करते हैं, घोड़ेकी पूजा करते हैं, हाथीकी पूजा करते हैं, पृथिवीकी पूजा करते हैं—पार्थिव लिङ्ग हाथसे बना लेते हैं और पार्थिव लिङ्गकी पूजा करते हैं, शिवलिङ्गकी पूजा करते हैं, शालिग्रामकी पूजा करते हैं—बाहर चाहे कुछ भी हो, हमारे हृदयमें ईश्वर-बुद्धि बनती है और हम जानना चाहते हैं कि ईश्वर, जो सृष्टिको बनानेवाला है, सृष्टिका पालन करनेवाला है, संहार करनेवाला है, सबका अन्तर्यामी है, सबका संचालक है—कौन है, कैसा है!

असलमें, ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेमें हमको साकार और निराकार दोनोंसे ही सहायता मिलती है। असलमें हमने ईश्वरको अभी तक देखा तो है नहीं, इसलिए निराकार भी एक मान्यता है और साकर भी एक मान्यता है और जिसको ईश्वरका साक्षात्कार हो चुका है, उसको साकार-निराकार दोनों ही ईश्वर हो जाता है। इसलिए, साकारकी उपासना करनेवालेको छोटा नहीं समझना चाहिए और निराकारकी उपासना करनेवालेको मूर्ख नहीं समझना चाहिए। सब ईश्वरके उपासक हैं। भले ही साकारकी, रामकी, कृष्णकी, विष्णुकी, शिवकी, सूर्यकी, समुद्रकी, वायुकी उपासना करें अथवा निराकारकी उपासना करें—अपने आत्माके रूपमें परमात्माकी उपासना करें—बस, ईश्वर-बुद्धि होनी चाहिए। इसलिए एक गृहस्थके लिए कोई साकार-निराकारका बँटवारा नहीं है। जिस गृहस्थकी जैसी योग्यता हो, जैसी बुद्धि हो, जैसी परम्परा हो—उसके पिता-पितामह जिस प्रकारसे भगवान्की पूजा करते आये हों, उसी प्रकारसे वह करे, उसको छोड़नेका कोई कारण नहीं है। ईश्वर तो सर्व-रूपमें हैं, फिर आप उसको क्यों बदलना चाहते हैं?

एक बार जब मैं 'कल्याण'-परिवारमें था तब किसी सज्जनने एक

चिट्ठी लिखी मुझे कि 'मैं बीस वर्षसे निराकारकी उपासना कर रहा हूँ, कोई लाभ मुझे नहीं हुआ, इसलिए अब मैं साकारकी उपासना करना चाहता हूँ। कैसे करूँ, आप उत्तर दीजिये।' मैंने उनको लिखा—'आप निराकारसे जरूर कुछ चाहते होंगे, उसको चूमना चाहते होंगे, हृदयसे लगाना चाहते होंगे, कुछ रुपया-पैसा चाहते होंगे और वह नहीं मिला तो उसको छोड़ रहे हैं, नहीं तो छोड़नेकी क्या जरूरत है? तलाक देनेकी क्या जरूरत है?' तो, जहाँ अपने हृदयकी प्रीतिसे परमात्माकी आराधना की जाती है, वहाँ ही परमात्मा होता है।

रामचरितमानसमें आया है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रकट होइ मैं जाना॥

और जैसे जल है और बर्फ है—है दोनों जल ही तो, वैसे ही साकार-निराकार है।

जो गुण रहित सगुण सोइ कैसे।
जल हिम उपल विलग नहीं जैसे॥

असलमें तो, साकार-निराकारमें कोई भेद नहीं है। यह तो बुद्धिमें लोग भेद पैदा कर देते हैं। पर, जो लोग ऐसा करते हैं और कहते हैं कि निराकार ईश्वर नहीं है, साकार ही है और साकार ईश्वर नहीं है केवल निराकार ही है—वे ईश्वरको अधूरा बनाते हैं, ईश्वरको काटनेका अपराध करते हैं और स्वयं अपराधी होते हैं। असलमें सब कुछ वही हैं। हमारे तो तुलसीके पौधेसे लेकर आत्मा-ब्रह्म पर्यन्त एक मात्र परमेश्वर ही भरपूर है।

प्रश्न—'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही'—गृहस्थ-धर्म पालनके परिप्रेक्षमें गोस्वामी तुलसीदासजीके इस पदका अर्थ कृपया समझायें! साथमें गोस्वामीजीके इस पदका वास्तविक अर्थ भी बतायें!

उत्तर—इतिहासकी बात तो मैं नहीं जानता, क्योंकि इतिहास-भूगोलमें कभी मेरी रुचि नहीं रही। भूगोलके बारेमें तो हमारा ज्ञान इतना है कि हम समझते थे कि दिल्लीसे जब रेलगाड़ी द्वारा दक्षिण जाते हैं तब रास्तेमें बीकानेर, रतनगढ़ आदि आते हैं, तो लोगोंने बताया कि ये दक्षिणमें नहीं, पश्चिममें हैं, और इतिहासके बारेमें हमारा ज्ञान इतना है कि मुझे यह भी नहीं मालूम कि ईसाकी कब्र कहाँ है—इंग्लैण्डमें, कश्मीरमें या कहीं और! असलमें, गड़े मुर्दे उखाड़नेमें कभी हमारी रुचि नहीं रही।

अब इस पदकी बात यह है कि लोग बताते हैं कि मीराकी पूजामें, उसके भजनमें बहुत बाधा जब डाली गयी तब उसने गोस्वामी तुलसीदासजीको एक चिट्ठी लिखी और उसके उत्तरमें तुलसीदासजीने मीराको यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौ॥
तुलसी सो सब भाँति परमप्रिय पूज्य प्राण ते प्यारो।
जाते होइ सनेह राम-पद एतौ मतो हमारो॥

पर, ऐतिहासिक लोग इससे बिल्कुल भिन्न बात बताते हैं। वे कहते हैं, कि

मीराके समयमें और गोस्वामी तुलसीदासजीके समयमें बहुत अन्तर है, इसलिए इस प्रकारका पत्र-व्यवहार होना सम्भव ही नहीं है।

अच्छा, अब हम लोगोंकी बातको और इतिहासको छोड़ देते हैं और इस पदके सिद्धान्तपर आजाते हैं। इसमें जो सिद्धान्त है वह मीरा जैसे भक्तके लिए ही है। इसलिए, यदि यह पूछनेवाले सज्जन सचमुच मीराके समान भक्त हों और मीराके साथ उनका तादात्म्य हो गया हो तो गोस्वामीजीकी यह सलाह—***'तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही'***—मानने योग्य है और यदि अधूरे हों, माने मीरा जितना प्रेम उनके हृदयमें नहीं हो तो इस पदपर सोच-विचारकर कदम उठाना चाहिए। बड़े-बड़े महात्माओंके लिए कही गयी बातें, साधारण लोगोंके अनुकरण करनेके लिए नहीं होती हैं। सूरदासजीने भी तो ऐसा ही एक पद लिखा है—

तजो रे मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धि उपजत है, परत भजनमें भंग॥

पर, आप अपनेको तौल लीजिये कि आप तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदिकी नकल करने योग्य अभी हो गये हैं कि नहीं! बस, इसीसे आपके प्रश्नका उत्तर हो जाता है! वैसे बाबाजी लोगोंके लिए दूसरा उत्तर होता है और गृहस्थोंके लिए दूसरा। आप अपनी गृहस्थीमें कुछ गड़बड़ी मत डालिये। हम आपसे पूछते हैं कि आप कितने घंटे भजन करते हैं? चौबीस घण्टे आपके पास होते हैं ना? मान लीजिये उसमें-से छः-सात घण्टे आप सोते होंगे और छः-सात घण्टे ऑफिसमें काम करते होंगे और घण्टे-दो-घण्टे स्नान-भोजनमें लगाते होंगे, तब भी तो आपके जीवनमें सात-आठ घण्टा समय रह जाता है, उसमें-से चार-पाँच घण्टा तो कम-से-कम ऐसा आपको मिलना ही चाहिए, जिसमें आप भगवान्‌का भजन कर सकते हैं। आप हिसाब लगाइये सबका। देखिये गप्प हाँकनेमें कितना समय जाता है, हँसी-खेलमें-टीवी-सिनेमामें कितना समय जाता है और भजनमें कितना समय जाता है। यदि आप सच्चाईसे आठ घंटेतक भजनके काममें लगा सकते

हों तो आप इस पद—***'जाके प्रिय न राम वैदेही'***—पर ध्यान दीजिये और नहीं तो इसे भूल जाइये। इसके अतिरिक्त आप अपनी प्रियताको भी तौलिये। क्या सचमुच भगवान् सीता-राम आपको प्रिय हैं? अरे भाई, आपको तो अपना भाई प्रिय है, माता-पिता प्रिय हैं, पुत्र प्रिय है, पति प्रिय है, पत्नी प्रिय है और सबसे अधिक—अपना शरीर प्रिय है, शरीरके लिए उपयोगी जो वस्तुएँ हैं—मकान, धन आदि सम्बन्धी प्रिय हैं—आप अपने प्रियोंकी एक लिस्ट बना लीजिये और फिर देखिये कि यदि राम-वैदेही आपके प्रिय हों तो आप गोस्वामीजीकी सलाह जरूर मानिये और सबको छोड़ दीजिये और यदि नहीं, तो फिर आप सबके प्रति जो आपका कर्तव्य है, उसका पालन करते हुए सुखसे अपने घरमें रहिये।

प्रश्न—मोह, ममता, प्रेम और आसक्तिमें क्या अन्तर है, कृपया बतलायें ताकि हम अपने कर्त्तव्योंको सरलतासे निभा सकें।

उत्तर—यह बात सही है कि मनुष्यके जीवनमें दुःख आते हैं। ऐसा कोई नहीं होता, जो शरीरधारी हो और जिसके जीवनमें कभी दुःख न आया हो। आप बुरा मत मानना—हमने विष्णु भगवान्‌को भी रोते देखा है—एक बार उनको भी मोह हो गया था। क्या आपको वृन्दा और जालन्धरका प्रसङ्ग याद नहीं है? और हमने शिवको भी रोते देखा है; रामको भी रोते देखा है; भागवतमें भी ऐसे कई प्रसङ्ग हैं। भाई-भाईमें मतभेद है, अविश्वास है। यहाँ तक कि बलरामजी भी श्रीकृष्णपर विश्वास नहीं करते हैं। (यह बात भागवतमें तो बहुत थोड़े रूपमें है, पर विष्णु-पुराणमें बहुत विस्तारसे है।) तो हम देखते हैं कि सभी शरीरधारियोंके जीवनमें दुःख आता ही है। ऐसी स्थितिमें जो लोग सोचते हैं कि हमारे जीवनमें कोई दुःख आवे ही नहीं, उनको जब दुःख आता है तब बहुत मालूम पड़ता है और जो लोग मानते हैं कि दुःख तो जीवनमें आता ही है, वे सहज भावसे दुःखको पार कर लेते हैं।

अब, देखना यह है कि शरीर धारण क्यों होता है? तो कर्मके अनुसार शरीरकी प्राप्ति होती है। यों शरीर देता तो ईश्वर है, पर वह हमारे कर्मोंके अनुसार देता है—क्रोधीको साँपका शरीर या शेरका शरीर देता है और माँस-भोजीको गीधका। माने वासना आकार देती है और प्राण उसको गति देते हैं और वासनाके अनुसार जीवात्मा उसके साथ मिलकर गति प्राप्त करता है—

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

जैसी उपासना करोगे, जैसा कर्म करोगे, जैसी पूर्वजन्मकी बुद्धि होगी—उसके अनुसार शरीर मिलता है! अब, ये जो कर्म होते हैं, इनमें तीन प्रकारके दोष होते हैं—मोह, राग और द्वेष। (आपके सामने मैं न्याय-दर्शनका क्रमसे पाठ कर रहा हूँ।) माने मनुष्यके जीवनमें जितने दोष हैं, उनको तीन रूपोंमें बाँटा जा सकता है। एक मोह—यह तमोगुण-प्रधान होता है और इसमें कुछ नहीं सूझता है। यहाँ तक कि अपना हित भी नहीं सूझता है—अपने कामसे अपना अहित कर लेते हैं, अपनी बुद्धिसे अपना अहित कर लेते हैं। संस्कृत भाषामें 'मोह' माने होता है—चित्तका उल्टा हो जाना, बुद्धिकी विपरीतता, उल्टी खोपड़ी, मुहु वैचित्ते। गीतामें भी यही बात कही गयी है—सुखको दुःख समझ लेना, कर्त्तव्यको अकर्त्तव्य समझ लेना—मोहके लक्षण हैं। मोह अज्ञान है, तमस है। और फिर मोहसे होता है—राग। इसमें क्या होता है कि जो अपनेको सुखदायी मालूम पड़ता है, उसके साथ हम इतना चिपक जाते हैं और अपने रंगमें उसको इतना रंग देते हैं कि उसका दोष दिखायी नहीं पड़ता। यदि आपको संसारमें कोई ऐसा लगता है, जिससे कोई दोष दिखायी नहीं पड़ता तो आप समझ लेना कि आप रागके रंगमें बिलकुल डूब गये हैं। राग हमारी आँखोंको रंग देता है उससे, जिससे हमें राग होता है उसके दोष नहीं सूझते और तब हममें पक्षपात भी आ जाता है। देखो, एक ही माँके चार बेटे होते हैं, छः बेटे होते हैं, दो बेटे होते हैं, पर जिससे राग हो जाता है, उसके लिए माँके मनमें पक्षपात हो जाता है

अद्भुत माया है ना? सबमें अपना ही तो खून है, फिर एकके साथ पक्षपात क्यों? कि उससे ममता है। ममता तो सबसे है। आसक्ति है, प्रेम है, कहीं कुछ कम है, कहीं कुछ अधिक है। लेकिन जब ममताके कारण हम उसका पक्षपात करते हैं—भले ही दूसरे बेटेकी हानि हो जाये, पर इसकी उन्नति हो—यह बापमें भी होता है, माँमें भी होता है, गुरुमें तो नहीं होता है। इसमें क्या बात है?

एक गुरुजी थे। उनके दो चेले थे। अपने एक चेलेसे गुरुजी रोज भिक्षा मँगवाते, स्वयं खाते दूसरे चेलेको देते और उसको कभी खानेको देते, कभी नहीं देते और धरतीपर सोनेको कहते। जबकि दूसरे चेलेको बड़े आरामसे रखते, उसके लिए अलग कमरा था, पलंग था, गद्दा था, सब व्यवस्था थी। कोई एक महात्मा वहाँ आये। उन्होंने यह सब देखा। पूछा—महात्मा होकर तुम इतना पक्षपात क्यों करते हो? एकके प्रति इतनी कोमलता और दूसरेके प्रति इतनी कठोरता? गुरुजी बोले—एक चेलेको इस लोकका सुख दे रहा हूँ और दूसरे चेलेको परमार्थका सुख दे रहा हूँ! लौकिक सुख चाहनेवालेको लौकिक सुख और पारमार्थिक सुख चाहनेवालेको पारमार्थिक सुख!

तीसरा होता है—द्वेष। जिससे द्वेष हो जाता है, उसके गुण नहीं दीखते हैं! यह संस्कारमें रहता है, अतः सोते समय भी बना रहता है। यहाँतक कि समाधिमें बना रहता है। और तो क्या बतावें—तत्त्वज्ञान होनेपर भी कभी-कभी जीवनमें उभर आता है। इससे भी अधिक बतावें! कभी-कभी तो भगवान्‌का दर्शन होनेपर भी पूरी तरह नहीं मिटता, फिर-फिर बन जाता है, भला! ध्रुवके जीवनमें जो भगवान्‌के दर्शनके बाद यक्षोंसे लड़ाईकी बात और बादमें स्वायम्भुव मनुके समझानेकी बात आयी है, उसको यदि आप ध्यानसे देखेंगे तो आपको इसका पता चल जायेगा। द्वेष जलती हुई आग है—यह जब वृत्तिमें आरूढ़ होती है, माने हमारे वर्तनमें आती है, तब इसका नाम क्रोध हो जाता है, जब क्रियामें आती है तब इसका नाम हिंसा हो जाता

है और जब यह सार्वजनिक रूप धारण करती है तब इसका नाम विद्रोह हो जाता है! तो पहले मोह, मोहवश द्वेष, द्वेषसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा और हिंसासे विद्रोह-इसकी वंश-परम्परा है।

तो भाई, यह राग, द्वेष, मोह—रंजनात्मक वृत्ति—जैसे आपके मनकी, पसन्दकी खानेकी कोई चीज आ जाये—मुरब्बा या अँचार और जीभपर पानी आजाये, ऐसे ही जिसको देखकर मनमें अनुकूल वृत्ति उदय हो जाये कि इसने हमको बहुत सुख दिया है तो दिल थोड़ा रसीला हो जाता है, रंग जाता है—उसको राग कहते हैं और किसीको देखकर आग-सी लग जाये तो उसे द्वेष कहते हैं और जब हित-अहित कुछ सूझे ही नहीं, तब उसको मोह कहते हैं! दूसरेकी अधिक प्रतिष्ठा देखकर सहन न कर पाना—ईर्ष्या, होड़ लगाना—स्पर्धा और गुणमें दोष निकालना—असूया कहलाते हैं। ये सब गुण-दोषके विवेक हैं और बहुत सूक्ष्म रूपमें रहते हैं और इनका आश्रय है—'अभिमान' और ये सब 'मैं'के सहारे अपनी जिन्दगी बसर करते हैं और 'मैं' इतना सूक्ष्म होता है कि उसका किसीको पता ही नहीं चलता है। एक सज्जन सत्संगमें आते थे और रोज जूतोंके पास जाकर बैठ जाते थे। एक दिन किसीने पूछा—'क्यों भाई, आगे क्यों नहीं बैठते?' तो बोले—'ये सब अभिमानी हैं, आगे जाकर ऊपर बैठते हैं। मेरे अन्दर कुछ अभिमान नहीं है, मैं पीछे, नीचे बैठता हूँ।' तो नीचे बैठनेमें जो अच्छेपनका अभिमान था, वह उनको सूझता ही नहीं था कि यह भी कोई अभिमान हो सकता है! तो भाई, अपने गुण-दोषको ठीक-ठीक रखना चाहिए और दाँव-पेंच, षडयन्त्र, कूटनीति, राजनीतिसे दूर रहकर सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए और सुखी रहना चाहिए! सुखी रहो और सुखी करो!

: ३ :

२७-११-८५

प्रश्न—'धन्यो गृहस्थाश्रमः' प्रश्नोत्तर प्रवचन-मालाके तृतीय दिवसपर पूज्य महाराजजीको नतमस्तक प्रणाम करती हुई मैं सभी श्रोताओंका स्वागत करती हूँ। आजका प्रथम प्रश्न है—

यज्ञ, दान और तपके महत्त्वको समझाते हुए कृपया बतलायें कि गृहस्थके द्वारा ये किस प्रकार किये जायें?

उत्तर—'धन्यो गृहस्थाश्रमः'के प्रसङ्गमें आपको सुनाया ही था कि सब आश्रमोंका मूल गृहस्थाश्रम है। सब संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमसे ही पैदा होते हैं और गृहस्थसे ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं—मूल भी गृहस्थ और आश्रम भी गृहस्थ।

अब देखिये, गृहस्थ जीवनमें वह सब कुछ होना चाहिए जो मूल-भूत सृष्टिके तत्त्वोंमें है। माने जैसे पृथिवी सबको धारण करती है और अन्न देती है—यह पृथिवीका यज्ञ है, पृथिवी यह यज्ञ कर रही है; जैसे माँ बच्चेको गोदमें रखती है और दूध पिलाती है, वैसे ही जब हम पृथिवीके बच्चे हैं, तो हममें भी हमारी माताके जो उत्तम-उत्तम गुण हैं—वे आने चाहिए।

पृथिवीकी तरह हम भी सबको अपने बच्चोंकी तरह रखें, सबको अन्न दें, सबको मातृत्व दें—

माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः।

माने पृथिवी हमारी माता है और हम पृथिवीके पुत्र हैं—तो हमारी माताके गुण हममें आने चाहिए, माने पृथिवी जो यज्ञ कर रही है वह हमारे जीवनमें भी होना चाहिए।

इसी प्रकार जल है। जल सबको तृप्ति दान करता है। यह जलका यज्ञ है। अब देखें आप, जलसे बना हुआ हमारा शरीर है। माने हम जलके पुत्र हैं। सच पूछो तो पृथिवी हमारी माता और जल हमारे पिता हैं। एक बूँद पानीसे ही तो मनुष्यका शरीर पैदा होता है—स्त्रीका, पुरुषका, पशुका पक्षीका। और जिसमें नारायणका निवास है, वह नार। नार माने जल। *आपो नारः इति प्रोक्तः* जल सबको तृप्ति प्रदान करता है, जीवन दान करता है, 'जीवन' उसका नाम है। तो वैसे ही, हम भी सबको तृप्ति दें, जीवन दें, और जब जलके गुण हमारे जीवनमें आजायेंगे, तब प्राकृत यज्ञका, स्वाभाविक यज्ञका विकास हमारे जीवनमें हो जायेगा।

ऐसे ही अग्नि है। अग्नि केवल हमारी रसोई ही नहीं बनाती, वह हमारे शरीरमें भी 'टेम्परेचर'के रूपमें रहती है (यदि हमारे शरीरमें ऊष्मा न हो, गर्मी न हो तो क्या हम रह सकते हैं?) और हमारी मलिनताको भस्म करके हमारी जीवनको सोनेकी तरह निखार देती है, पौरुषमय बनाती है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा कल्याणकारी मार्गमें विचरण करते हैं, सबको प्रकाश देते हैं—बिजलीका प्रकाश मिलता है बिल चुकानेपर, घरमें रसोई बनती है—बिजलीसे, गैससे या कोयले-लकड़ीसे—तो उसका पैसा लगता है, पर यह जो समष्टि अग्नि आपको शक्ति दे रही है, 'टेम्परेचर' दे रही है, ताप दे रही है, प्रकाश दे रही है, रसोई बना रही है—यह उसका यज्ञ है, अग्नि कर रही है। जैसे सूर्य बिना विश्रामके निरन्तर चलता रहता है और प्रकाश, ताप देता रहता है, जैसे चन्द्रमा बिना किसी रुकावटके निरन्तर चलता रहता है और

चाँदनी और आह्लाद देता है, वैसे ही आप भी अपने जीवनको लोगोंकी सेवामें लगाइये!

अब वायु-वायु तो ऐसा यज्ञ कर रहा है कि आपको क्या बतावें? वह हमारी गन्दगीको अपना लेता है और हमें शुद्ध वायु देता है। कैसे कि हम जो अपने शरीरमें-से गन्दी साँस निकालते हैं, उसको वह आत्मसात् कर लेता है, अपना लेता है और हर क्षण हमें प्राणपद वायु देता रहता है। तो वह वायुका यज्ञ है। वायु यज्ञ कर रहा है।

और आकाश-आकाश सबको अवकाश देता है—क्या पृथिवी घूमे, क्या सूर्य-चन्द्रमा घूमें, क्या बादल आवें और क्या तारे चमकें-आकाश सबको अपने हृदयमें स्थान देता है, अपने पेटमें रखता है। यह आकाशका यज्ञ है।

इस तरह हम देखते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश—सबके द्वारा यज्ञ सम्पन्न हो रहा है और हमारा शरीर भी तत्त्वोंसे बना हुआ है, तो क्यों नहीं हमारा जीवन भी इन्हींके समान हो? हम भी पृथिवीके समान सबको धारण करें, जलके समान सबको तृप्त करें, अग्निके समान हमारे जीवनमें कर्म करनेकी शक्ति हो—**'अग्निमिच्छध्वं भारताः'**—'प्रतिभाशाली पुरुषो, बैठो मत, उठो और अग्निका आह्वान करो, अग्निके समान प्रज्वलित हो जाओ और अपने जीवनको पौरुषमय बना लो।'

भगवान् श्रीकृष्णने कई तरहके यज्ञोंका वर्णन किया है। गीतामें आपने पढ़ा होगा—बारह तरहके यज्ञ हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥
श्रेयान्द्रव्यंमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

आप पृथिवीका ज्ञान प्राप्त कीजिये, जलका ज्ञान प्राप्त कीजिये, अग्निका ज्ञान प्राप्त कीजिये, वायुका ज्ञान प्राप्त कीजिये, अवकाशका ज्ञान प्राप्त कीजिये

और क्योंकि इन्हीं तत्त्वोंसे आपका शरीर बना है इसलिए अपने जीवनको इनके स्वभावके अनुरूप बनाइये। जब आपका जीवन इनकी तरह हो जायेगा तब आपका जीवन भी यज्ञ हो जायेगा। आप पृथिवीसे इतना कुछ लेते हैं, तो आप उसकी पूजा कीजिये। यज्ञमें सबसे पहले भूमि-पूजन ही होता है। और फिर कलश-स्थापन होता है, माने—जलकी पूजा होती है। फिर अग्नि-स्थापन होता है, माने अग्निकी पूजा होती है। प्राणायाम होता है, जो वायुकी पूजाका द्योतक है और मन्त्रोंका उच्चारण आकाशकी पूजा है। इस तरह ये सब भगवान्‌के स्वरूप हैं, भगवान्‌की पूजा है। पृथिवी भगवान्‌का लिङ्ग है, जल भगवान्‌का लिङ्ग है, अग्नि भगवान्‌का लिङ्ग है—'**अग्निमीळे पुरोहितं**'—यज्ञका जो मूल रूप है वह तत्त्वोंसे ग्रहण किया जाता है। अच्छा, यह हो गया उसका मौलिक, मूल रूप। अब इसके आगे देखें। हमलोग इसका अनुकूल चिन्तन करते हैं। माने जो शास्त्रोंमें लिखा है उसमें पहले ही काट-कूट नहीं करते हैं, पहले ऐसे चिन्तन करते हैं कि आखिर किस दृष्टिकोणसे यह बात कही गयी है।

तो आपके जीवनमें यज्ञ कब होगा कि जब आपके जीवनमें सहिष्णुता आयेगी। तो सहिष्णुता कहाँसे आयेगी? जैसे ब्रह्मको सगुण कहें, निर्गुण कहें; साकार कहें, निराकार कहें; दूर कहे, निकट कहें, ब्रह्म बोलता नहीं है, विरोध नहीं करता है, वैसे ही जब आपका जीवन भी उस अविरोधी तत्त्वसे एक हो जायेगा तब माने आपके जीवनमें सहिष्णुता आयेगी ब्रह्मसे! क्षमा आयेगी ब्रह्मसे और सम्पूर्ण अध्यासोंमें अधिष्ठान रूपसे आप कैसे रहेंगे कि जब अपनेको ब्रह्मरूपसे जानेंगे और तब आपके जीवनमें यज्ञकी पूर्णता होगी!

आजकल पढ़ने-पढ़ानेकी तो प्रथा चली गयी है, लोग किसीकी भी लिखी किताब पढ़ लेते हैं और अपनेको ज्ञानी मान लेते हैं, मूल-शास्त्रोंका अध्ययन तो कोई करता ही नहीं, पर आप उस ज्ञानकी ओर तो जरा देखिये जिसने पृथिवीको जड़ पृथिवीके रूपमें नहीं, देवताके रूपमें देखा। '**ॐ भूरसि०**' जिसमें '**आपो हिष्ठामयो भुवः०**'—उस ऋषिकी ओर देखिये जिसमें—'**अग्ने नय सुपथा०**' जो आपकी दृष्टिमें जड़ दिखानेवाले तत्त्वोंमें चेतना भर रहा है। '**वायोः त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म**' वह उदात्त दृष्टि—जिसमें जड़ताकी दृष्टि ही न रहे, चेतना-ही-चेतनाकी दृष्टि हो जाये, देवताकी दृष्टि हो जाये, दिव्य दृष्टि हो जाये। हम तो जब कभी उन ग्रन्थोंको पढ़ते हैं जिनमें तुलसी देवता है, पीपल देवता है, बेल देवता है; जिसमें मछली भगवान् हैं, कछुवा भगवान् हैं, सूअर भगवान् हैं—तो बस, हृदय गद्गद हो जाता है। यह आपकी दृष्टि ही यज्ञ है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

यदि आपकी दृष्टि ऐसी बन जाये तो यज्ञ हो जाये!

अब, इस दृष्टिको बनानेके लिए देखो आप पृथिवीकी, जलकी, अग्निकी पूजा करते हैं, पर आप पूजा पूर्णरूपसे तो कर नहीं सकते—सारी धरतीको पूज नहीं सकते, सारे जलको पूज नहीं सकते, सारी अग्निको पूज नहीं सकते। तो आप एक यज्ञशाला बनाते हैं और उस यज्ञशालामें वेद पढ़नेवाले विद्वानोंका आदर करते हैं, मन्त्रोंका आदर करते हैं; वहाँ ऋषियोंका आदर होता है, तत्त्वोंका आदर होता है, पहरेदारोंका आदर होता है, सामग्री लानेवालोंका आदर होता है, काम करनेवालोंका आदर होता है। इस तरह एक यज्ञके द्वारा कितने मनुष्योंका कल्याण होता है और अपने घरमें अन्यायोपार्जित जो सम्पदा है, वह जब देवताओंके उद्देश्यसे खर्च होती है तब उससे जो दोष घरमें आया था, उसकी निवृत्ति होती है और पुण्यकी प्राप्ति होती है और ऋषियोंके प्रति देवताओंके प्रति, पितरोंके प्रति, तत्त्वोंके प्रति, अपने कर्त्तव्यका पालन होता है; वेदोंकी रक्षा होती है; ब्राह्मणोंका निर्वाह होता है और अपना हृदय देवतामय बनता है। मीमांसकोंका कहना है कि जितने समयतक आप यज्ञशालामें बैठे रहते हैं, उतने समयतक आप

स्वर्गमें बैठे हैं—यहाँ यह देवता है, यहाँ यह देवता है, यहाँ देवता है—समझना चाहिए। वेद-मन्त्रोंका उच्चारण होता रहता है। मन्त्र उसको कहते हैं—**'अधिदैवसम्बन्धो स्थापकः मन्त्रः'**।

हमारा एक बालक मित्र आजकल अमेरिकामें अनुसन्धान कार्य कर रहा है। उसने हमको अनुसन्धानके प्रयोग भेजे हैं, जिसमें लिखा है कि विश्वमें आज जितनी भाषाएँ हैं, उनमें एक संस्कृत भाषा ही ऐसी है जो सबसे अधिक सुगमतापूर्वक 'कम्प्यूटर'को सिखायी जा सकती है। माने शब्दोंकी धारा होती है, जिससे अमेरिकामें 'ब्रॉडकास्ट' किया जाता है और आप हिन्दुस्तानमें उसे सुनते हैं और हिन्दुस्तानमें 'ब्रॉडकास्ट' किया जाता है और अमेरिकामें आप सुनते हैं। अमेरिकामें जो अनुसन्धान किया गया है वह यह किया गया है कि संसारमें जितनी भी भाषा है, सब भाषाओंसे संस्कृत भाषाके शब्दोंकी ध्वनि आकाशमें सबसे ऊँचे उठती है। (अन्तर्मुखतामें इस बालकका सबसे अधिक नम्बर आया था यहाँ इसलिए अमेरिकन सरकारने 'स्कॉलरशिप' देकर इसे वहाँ बुला लिया) तो हाँ, यज्ञशालामें संस्कृतके मन्त्रोंका सामूहिक रूपसे जो ब्राह्मण लोग उच्चारण करते हैं,उसके बाद आकाशमें तो जाते ही हैं, पृथिवीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, सूर्यमें, चन्द्रमामें, ग्रह-नक्षत्रोंमें, तारोंमें, अन्तर्देशमें, यहाँतक कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम प्रदेशमें भी प्रवेश करते हैं और वहाँ जाकर ऐसी वैज्ञानिक और रासायनिक प्रक्रिया उत्पन्न करते हैं कि उसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्वपर पड़ता है!

यज्ञ क्या है ? कि सम्पूर्ण विश्वके संचालनका चक्र। और यह विश्वचक्र चलता है यज्ञके द्वारा—गीतामें जो सात अरोंका वर्णन है, वह यह यज्ञ ही हैं— तीन अरें पहले होते हैं और तीन बादमें और बीचमें होता है कर्म-चक्र। यह श्लोक चौदहवें नम्बरका है और तीसरे अध्यायका है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

जैसे, कोई रथका पहिया चलता है तो उसमें छः अरें लगे रहते हैं और बीचमें चक्रकी धुरी रहती है, वैसे ही—तीन ये हो गये—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

और,

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

तीन ये हो गये। पर्जन्य, अन्न और भूत—ये तीन अरें लौकिक हुए और कर्म, ब्रह्म और अक्षर—ये तीन अरें अन्तरङ्ग हुए और बीचमें है—यज्ञ—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

इस तरह यज्ञका आधिभौतिक रूप है—अन्न, पर्जन्य और भूत और यज्ञका आध्यात्मिक रूप है—कर्म, ब्रह्म और अक्षर और बीचमें रहकर यज्ञ जीवको, दोनों प्रकारकी— आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रगति प्रदान करता है। पर यह अर्थ उन्हीं लोगोंको प्राप्त होता है जो लोग वेद-शास्त्र पढ़ते हैं और अनुकूल चिन्तन करते हैं। जिसको वेद-शास्त्रमें एक भी अक्षर गलत दीखता है, उसको वेद-शास्त्र अपना अर्थ नहीं देते हैं।

तो, आपको यज्ञकी विधि जानकर शास्त्रोक्त रीतिसे यज्ञ करना चाहिए और अपने जीवनको यज्ञ बनाना चाहिए और विश्वसृष्टिमें जो यज्ञ हो रहे हैं, उनका निरन्तर दर्शन करना चाहिए। यह सृष्टि यज्ञ-ही-यज्ञ है। यज्ञके सिवाय और कोई सृष्टि है ही नहीं।

अब हम आपको दानकी बात सुनाते हैं। हमारे वेदोंमें मूल संहितामें ही ऐसे मन्त्र आते हैं, जिनमें कहा गया है कि हमारे जीवनमें रुकावट डालनेवाली चार बड़ी भारी दीवार हैं। जब कभी ब्राह्मण लोग सामवेदका पाठ करते हैं, तब इन मन्त्रोंका भी पाठ करते हैं—

सेतूंस्तर दुस्तरान्।

तुम्हारे जीवनमें कोई बड़ी अड़चन, कोई बड़ी रुकावट आ गयी है, उसको पार करो। उसमें एक है—अश्रद्धा। **श्रद्धया अश्रद्धां**-अश्रद्धा आपके जीवनमें सबसे बड़ी रुकावट है, उसको श्रद्धाके द्वारा पार करो। दूसरी है—अनृत। **सत्येन अनृतं**—आपके जीवनमें जो झूठकी चहारदीवारी खड़ी हो गयी है, उसको सत्यके द्वारा पार करो। तीसरी है—क्रोध। **अक्रोधेन क्रोधं**—क्षमाके द्वारा क्रोधपर विजय प्राप्त करो और चौथी है—**अदानं दानेन अदानम्**—यह जो हमको केवल लेना-ही-लेना, लेना-ही-लेना आ गया है, इकट्ठा करो, इकट्ठा करो, इकट्ठा करो कि दीवार बन गयी है—इस दीवारको, इस अवरोधको दानके द्वारा पार करो। माने जीवनके इन चार अवरोधोंको पार करनेके लिए हममें श्रद्धा, सत्य, अहिंसा और दान—होने चाहिए।

संस्कृत भाषामें एक 'हेमाद्रि' नामक ग्रन्थ है, इतना बड़ा कि हम तो उसको उठा भी नहीं सकते हैं, उसमें अलग-अलग खण्ड बने हुए हैं और उसमें एक दान-खण्ड भी है। उसमें दानका बड़े विस्तारसे वर्णन किया गया है। वेद भगवान्‌का यह कहना है कि देते चलो—'**श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं, भिया देयं, धिया देयं, संविदा देयं**'—श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे दो, भयसे दो, शर्मसे दो, जान-बूझकर दो—पर दो! कहनेका मतलब यह कि यदि सौ पैसेपर तुम्हारी ममता है और उसमें-से एक पैसा तुम दान कर देते हो तो आध्यात्मिक दृष्टिसे तुम्हारी ममताका जो घेरा सौ पैसेपर था, वह कम होकर निन्यानवेपर रह गया। माने आपकी ममता एक पैसा कम हुई। अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे दान आपके ममत्वको, आपकी ममताको कम करता है, आपके सिरका बोझ कम करके आपको हल्का-फुल्का बनाता है।

एक सज्जन एक महात्माके पास गये। बोले, 'महाराज, हमको परमात्माका साक्षात्कार करा दो!' वैसे मैंने दस-बीस दिन पहले सुना कि कोई ऐसा सिनेमा बना है, नाम तो मुझे नहीं मालूम और न ही मैंने देखा है, मुझे तो लोगोंने बताया कि उसमें भगवान् दिन भरमें दसबार आकर दर्शन दे जाते हैं, सिगरेटकी कमी होती है तो सिगरेट देनेके लिए ही आ जाते हैं और

कुछ चाहिए तो वह पहुँचा जाते हैं—तो ऐसे हर समय आनेवाले भगवानोंके बारेमें तो हम कुछ नहीं बोलते हैं, ऐसे मौसमी भगवान् तो बहुत होते हैं, जो समयपर भगवान् होते हैं और समयपर भगवान्‌पनेसे 'रिटार्यड' हो जाते हैं। तो उस सज्जनने महात्मासे कहा कि 'हमें परमात्माका साक्षात्कार करा दें।' महात्माने कहा—'अच्छा, कल आना तब हम सामनेवाले पहाड़के शिखरपर चलेंगे और तुम्हें परमात्माका दर्शन करा देंगे।' दूसरे दिन वह आया ही। महात्माने पहलेसे ही एक पोटलीमें बहुत-से पत्थर बाँध रखे थे। उसके आनेपर बोले—'उठाओ इसको और मेरे साथ-साथ चलो!' दोनों चलने लगे। कुछ दूर जानेके बाद वह बोला—महाराज अब यह बोझ लेकर मुझसे और नहीं चला जाता।' महात्मा बोले—अच्छा, एक पत्थर निकाल दो। निकाल दिया उसने। कुछ हल्का हो गया। फिर चलने लगा। थोड़ी देर चलनेके बाद फिर बोला—'अब तो मुझसे बिल्कुल नहीं चला जाता, लगता है मैं मर ही जाऊँगा।' बाबा बोले—'एक पत्थर और फेंक दो।' फेंक दिया। इस तरह पहाड़के शिखरपर चढ़ते-चढ़ते सारे पत्थर फेंक देने पड़े। फिर जरा सांस लेकर उसने कहा—'महाराज, आपने इतना पत्थर उठवाया, पहाड़पर चढ़ाया, अब तो ऊपर चढ़ आये, अब तो परमात्माका दर्शन करा दीजिये!' महात्मा बोले—'जब पत्थरके पाँच टुकड़े लेकर पहाड़पर नहीं चढ़ सके तब दुनियाँका इतना बोझ लेकर परमात्माके पास कैसे पहुँच सकते हो?' तो भाई, अपनेको कुछ हल्का करो।

दानके अनेक प्रकार होते हैं। अश्रद्धासे जो दान दिया जाता है, वह निष्काम होता है। गीतामें आप पढ़ते ही हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

न वहाँ, न यहाँ! अयोग्य व्यक्तिको जो दान दिया जाता है, वह जितना दिया जाता है उससे कम फल देता है। वैसे सामान्य रूपसे देनेपर दानके बराबर फल होता है और पर्वके दिन, त्योहारके दिन—बुआजीके यहाँ या

अपनी बेटीके यहाँ भेज दिया या रसोइयेको दान कर दिया ताकि रसोई अच्छी बनावे—तो उसका नाम दान नहीं होता! वह तो काम लेनेका एक तरीका होता है, दान नहीं। अच्छा, अब देखें—कुछ दान ऐसे होते हैं, जिनसे दिये हुएसे अधिक फल होता है; कुछसे पूरा फल होता है और कुछ दान ऐसे भी होते हैं जिनसे अक्षय फलकी प्राप्ति होती है। इनके अलावा और भी कई दान होते हैं—भृत्यके लिए दान, मित्रके लिए दान, प्रीति दान, दया दान—माने किसी गरीबको देखा और दिल पिघल गया तो दे दिया उसको, इस लोकमें जो ग्रहादिके कष्ट हैं, उनकी निवृत्तिके लिए दान, नरकसे बचनेके लिए दान, बीमारीसे बचनेके लिए दान, स्वर्ग पानेके लिए दान, कर्त्तव्य-पालनके लिए दान, अन्तःकरण शुद्धिके लिए दान, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए दान, जिज्ञासाका उदय होनेके लिए दान, ज्ञान-प्राप्तिके लिए दान—ये सब अलग-अलग हैं और इनके स्तरोंका वर्णन 'हेमाद्रि' में, 'वीर-मित्रोदय' में और 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' में मिलता है! और अपनी योग्यताके अनुसार दान किया जाये तब तो पूछना ही क्या?

एक कथा आती है—प्रजापतिने अपने पास देवताओंको बुलाया। पूछा उन्होंने—'महाराज, हमारे लिए उपदेश?' बोले—'**दमय**', तुम लोग भोगी हो, अपनी इन्द्रियोंका दमन करो। समझे? 'हाँ समझ गये।' फिर दैत्योंको बुलाया, बोले—'**दयध्वं,**' '**दयध्वं**'। दया करो बेटा, दया करो। फिर पूछा—'समझ गये?' 'हाँ समझ गये कि क्रूरता नहीं करनी चाहिए, हिंसा नहीं करनी चाहिए।' फिर मनुष्योंको बुलाया। मनुष्योंने पूछा—'हमारे लिए क्या आज्ञा है?' प्रजापतिने कहा—'**दध्वं दध्वं**' दान करो, दान करो। इसका अर्थ हुआ कि देवता भोगी होते हैं, उनको इन्द्रियोंका दमन करना चाहिए; दैत्य क्रूर होता है, उसको दया करनी चाहिए और मनुष्य लोभी होता है, उसकी वृत्ति संग्रह करनेकी होती हैं, इसलिए उसको दान करना चाहिए और दान तो दान है ही, इन्द्रियोंका दमन भी दान है और दुःखीपर दया करना भी दान है।

देखो, गृहस्थोंके बीचमें हम कोई त्याग-दानकी बहुत ऊँची बात कह

दें तो पता नहीं उनके अनुकूल पड़े कि नहीं पड़े। पर, हम आपसे पूछते हैं कि आप अपने बेटेके बारेमें कैसा ख्याल रखते हैं? उसके जीवनमें पौरुषके रूपमें परमात्मा रहेगा कि नहीं रहेगा? अच्छी बुद्धि होगी कि नहीं होगी? प्रारब्ध होगा कि नहीं होगा? '**पौरुषं नृषु**'-मनुष्यमात्रके जीवनमें परमात्मा पौरुषके रूपमें निवास करता है। 'नृ' शब्दका अर्थ स्त्री-पुरुष दोनों होता है। पुरुषमें तो पौरुषके रूपमें रहता है और स्त्रीमें तो सात गुणा होता रहता है—

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।

तो, जब सबमें परमात्माका निवास है तो आपके पुत्रमें वह क्यों नहीं होगा? गृहस्थोंमें तो यह रीति है कि बाप अपने बेटेके लिए कमाता है और बेटा अपने बेटेके लिए। दोनों अगली पीढ़ीका भार अपने दिमागपर रखते हैं और जो सम्पदा मिली हुई है, उसका सदुपयोग नहीं करके अगली पीढ़ीके लिए रखते रहते हैं। यह नहीं सोचते कि तब न जाने कैसी सरकार रहेगी, क्या टैक्स होगा, क्या भाग्य होगा?

तो, दानका अर्थ होता है कि इसके कुछ अङ्ग होते हैं, कुछ आश्रय होते हैं, कुछ फल होते हैं और दान देनेसे सम्पदाकी वृद्धि ही होती है! बल्कि कभी-कभी तो दानकी घोषणा कर देने मात्रसे ही बड़ा लाभ हो जाता है।

एक सेठजी थे। उनके विषयमें अफवाह फैल गयी कि अब इनका दिवाला निकलनेवाला है। कमजोरी तो कुछ सचमुच आ गयी थी, पर हिम्मत करके उसने एक बहुत बड़ी सभा जोड़ी और उसमें घोषणा कर दी कि हम पाँच करोड़ रुपयेका दान करनेवाले हैं—यह मन्दिर बनेगा, यह धर्मशाला बनेगी, ऐसा स्कूल बनेगा, अस्पताल बनेगा। और तब, जो लोग अपना रुपया उठाने लगे थे, उनके मनमें विश्वास आ गया कि अभी इसके पास बहुत रुपया है, तभी तो पाँच करोड़की घोषणा कर रहा है और उन लोगोंने रुपया उठाना बन्द कर दिया और इस तरह वह सेठ बच गया! तो, दानका संकल्प ही अपनेको संकटसे बचा लेता है!

आप अपने जीवनमें कोई नियम रखो। आप लोगोंसे बहुत काम लेते हो, बदलेमें उनको थोड़ा दो भी। आपका अग्निसे बहुत काम है-रसोई बननेके बाद दो आहुति अग्निमें डाल दो। जंगलमें, पेड़ोपर जो चिड़ियों व बन्दरोंके लिए फल लगते हैं, उनको आप तोड़कर अपने घरमें ले आते हो, तो कम-से-कम दो ग्रास उनके लिए निकाल दो—(ये फल आदमीके लिए नहीं लगते—चिड़ियों व बन्दरोंके लिए ही लगते हैं)। आप लेते तो बहुत हैं और देनेका तो आपको ख्याल ही नहीं आता है। संग्रह करनेकी विद्या आपको आ गयी और खर्च करनेकी नहीं आयी!

देखो, अध्ययन, यज्ञ और दान—ये तीन तो सभीके धर्म हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सबको ये करना चाहिए और दान तो अपने जीवनका एक धारणात्मक धर्म है। धर्म माने धारणात्मक, जो हमको धारण करके रखता है, जिससे हम बिखरते नहीं हैं। दान नहीं करते तो हम बिखर जायेंगे-भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें इसका विस्तारसे वर्णन है—अवन्तीमें एक ब्राह्मण था। उसने दान नहीं किया तो उसका धन कुछ भाई-बन्धुओंने बेईमानी करके ले लिया, कुछ खो गया और कुछ लुटेरे लोग लूट कर ले गये। इस तरह यदि आप दान नहीं करेंगे तो तरह-तरहके विषय-भोग आपके जीवनको लूट कर ले जायेंगे। देखो, एक बालककी बात आपको सुनाता हूँ—उस समय मेरी उम्र २३-२४ वर्षकी होगी और वह १३-१४ वर्षका रहा होगा। उसने मुझको पचास रुपये लाकर दिये। मैंने मना कर दिया, क्योंकि तब मैं लेता नहीं था—'मैं नहीं लूँगा'। उस समय कोई बात नहीं हुई। फिर मैं उसके साथ गाड़ीमें कहीं जा रहा था। रास्तेमें एक सिनेमा घर आया। उसने गाड़ी रोकी और उतरकर पचास रुपयेकी सिनेमाकी टिकटें खरीदीं और लोगोंको बाँट दी। मैंने पूछा—'यह क्या कर रहे हो?' तो बोला, 'आप नहीं लेंगे तो हमारे रुपये ऐसे ही तो खर्च होंगे।' यह एक बालककी बुद्धिकी बात है।

एक और बात सुनाता हूँ—एक सेठ थे। अपने बेटेको दस लाख रुपये

देकर मरे, अबसे कोई पचीस वर्ष पहले और कह गये कि हमारे मरनेके बाद तुम हमारे नामसे दान कर देना, पर उसने अबतक, पचीस वर्षमें एक पैसा दान नहीं किया, सब-का-सब पचा गया। तो आप स्वयं दान करके दानका आनन्द लीजिये ना! देखिये, आपके चारो ओर डाक्टर लगे रहते हैं, वे आपको खाने भी नहीं देते; ऐसेमें अन्नवान् तो रहेंगे, अन्नाद नहीं होंगे; आपके पास भोगकी सामग्री तो रहेगी, पर भोगका सामर्थ्य नहीं रहेगा और यदि आप दान करते रहेंगे तो आप खा भी सकेंगे और भोग भी सकेंगे और आपकी अगली पीढ़ी भी उद्योगी होगी, कमायेगी; प्रारब्धपर निर्भर नहीं करेगी, अपनी बुद्धि लगायेगी और इस तरह आपका बोझ कम होगा और आप जो इतना सबसे ले रहे हैं, थोड़ा देकर उससे उऋण भी हो सकेंगे। तो, मनुष्योंके लिए प्रजापतिका उपदेश है—**दध्वं दध्वं,** दान करो, दान करो। अब तीसरी बातपर आते हैं—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

'तपस्'का अर्थ शास्त्रोंमें बहुत बढ़िया दिया है—**'तपो वै ब्रह्म, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'**—तपस्याके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है, यदि जानना हो तो तप करो। तपस्याका अर्थ यह नहीं होता—हम कुम्भ मेलेमें जाते तो देखते कि कोई-कोई आदमी अपने चारो ओर आग जलाकर और सिरपर भी आगकी हाँडी रखकर, जेठकी दोपहरीमें बैठे हैं अथवा चारो ओर पञ्चाग्नि जल रही है, चौरासी धूनि जल रही है और काँटेकी सेज बनाकर उसपर सोये हैं और ५-५ पैसा माँगते रहते हैं। तो इसका अर्थ तप नहीं होता है, तपका अर्थ होता है—मन और इन्द्रियोंको एकाग्र रखनेका सामर्थ्य होना, उनको एकाग्र रखना। आपका मन एक जगह नहीं बैठता, आपकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं होतीं और वासनाएँ आपके मनको जगह-जगह घुमाती रहती हैं; तो ऐसे डाँवाडोल चित्तके द्वारा आप संसारकी कौन-सी महत्त्वपूर्ण वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं? आप अपनी इन्द्रियोंपर ध्यान दें— जो आपकी इन्द्रियाँ हैं, जिनसे आप संसारका व्यवहार करते हैं—

छू-छूकर, सूँघ-सूँघकर, देख-देखकर—ये आपकी इन्द्रियाँ कहीं वेश्या तो नहीं हो रही हैं? शब्द तो कडुवा बोल गया मैं, पर आप पता तो लगायें कि आपकी इन्द्रियाँ एक पतिव्रता, एक सती जो अपने पतिके साथ रहकर सारा काम करती है—के समान हैं या कि एक वेश्याके समान हैं जो जगह-जगह डोलती, भटकती , चिपकती रहती हैं! तो तपस्याका अर्थ होता है—अपने शरीरसे थोड़ा कष्ट सहकर, इन्द्रियोंको थोड़ा संकुचित करके, अपने मनको डाँवाडोल होनेसे बचाकर अपनी बुद्धिको अपने लक्ष्यमें लगाना। और 'लक्ष्य' आपका चाहे जो हो। 'अर्थ' भी बहुत बढ़िया लक्ष्य है। कमाना कोई बुरी चीज नहीं है, भला! चार पुरुषार्थोंमें-से एक है यह।

अच्छा, एक बारकी बात आपको बताते हैं-हम आप लोगोंमें-से ही किसीके यहाँ कथा-प्रवचन कर रहे थे तो, घरके बड़े-बूढ़ोंने हमसे आकर कहा कि 'महाराज, आप यह ख्याल रखना कि हमारे बच्चोंको व्यापारी होना है, साधु नहीं होना है।' तो उनकी कही वह बात मैं भूलता नहीं हूँ—आप देख लें—हमारी हरिद्वारकी कथामें और यहाँ (कलकत्ता)की कथामें आपको अन्तर मिलेगा। हम आपको साधु तो नहीं बनाना चाहते, परन्तु आप दृढ़, पक्के और गम्भीर गृहस्थ तो बनें! मैं समझता हूँ, आप लोगों-मंसे कोई ऐसा नहीं होगा, पर हमको बम्बईमें एक स्त्रीने बताया कि चार बजते-बजते मैं कमरेमें-से निकलकर छज्जेमें आ जाती हूँ, क्योंकि चार बजेके बाद ही हमारे पति परमेश्वर घर लौटकर आते हैं और जब मोटर दरवाजेपर आकर खड़ी होती है तब मैं देखती हूँ कि वे ठीकसे आ तो रहे हैं ना? गिर पड़ते हैं तो मैं दौड़कर जाती हूँ, उनको उठाकर लाती हूँ, स्नान कराती और कपड़े पहनाती हूँ। आप सोचो, क्या इसीका नाम गृहस्थ है? हम सेठोंसे बोलते हैं और पढ़े-लिखे लोगोंसे बोलते हैं—आप लोग बुरा मत मानना, आजकल चोटीके पढ़े-लिखे लोग और चोटीके धनी लोग विदेशोंमें जाते हैं और गोमांस खाते हैं और जबतक वहाँके लोगोंके जैसे नहीं बन जाते तबतक अपनेमें हीनताका अनुभव करते हैं। सोचो, थोड़ा-सा अपने मनको यदि

आप रोक सकते! हमको एक होटलवाले सेठने बताया—सेठ क्या, राजाने बताया—उनका बहुत बड़ा होटल है, होटलमें मांस तो देते ही हैं, अब हम क्या बोलें, सबलोग खाते ही हैं—गोमांस भी देना पड़ता है, तो एक दिन उन्होंने हमसे पूछा—'मेरे पास बहुत गौएँ हैं और उनमें-से अब कुछ बूढ़ी हो गयी हैं तो क्या हम होटलमें उन गौओंका मांस दे सकते हैं?' मैंने कहा—'मुझसे मत पूछो बाबा, मुझपर कृपा करो!' तो जब हमारे चोटीके धनी लोगोंकी यह दशा है कि धनके बारेमें अपनेको नहीं रोक सकते—गोमांस बिक्री करनेके लिए भी तैयार, शराब पीनेके लिए भी तैयार, तो औरोंके लिए क्या कहा जाये? आपके सामने ही तो सब कुछ हो रहा है। अब इस युगमें आप हमसे तपकी चर्चा करवाना चाहते हैं? हमारे हृदयमें तपकी चर्चा करनेमें पीड़ा होती है, भला! एक गृहस्थ, जिसके जीवनमें पृथिवी, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश, ग्रह, नक्षत्रके समान यज्ञ होना चाहिए, उसके जीवनमें यह सब होगा तो पीड़ा नहीं होगी तो और क्या होगा?

तो भाई, तपका अर्थ है—अपने मनको संयममें रखना, अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखना। क्या आप इतनी तपस्या भी नहीं कर सकते कि जिसमें स्पष्टरूपसे रोग दीखता है, मृत्यु दीखती है, उसको छोड़ दें! क्या आपको कोई जहर पिलायेगा तो आप पी लेंगे? नहीं, आप कभी नहीं पीयेंगे, क्योंकि आपको शरीरकी मृत्युका डर होगा; पर, वहीं आप अपनी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाली शराबको पीते रहते हैं। दो भाई थे, वे एक बार कश्मीर गये। (यहाँ बैठे हैं उनके घरके लोग) और एक दिन शराब पीकर जुआ खेलने बैठ गये। नशेमें तो दोनों थे ही, आपसमें लड़ाई हो गयी और भाई-भाईने एक दूसरेको ऐसा मारा कि दोनोंके सिर फूट गये और वहाँसे फूटे सिर वापस लेकर लौटकर आये। तो, जिस चीजसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उससे भी हम अपने मनको नहीं रोक सकते, इन्द्रियोंको नहीं रोक सकते, इससे बढ़कर और विडम्बना क्या होगी? हमको आज सेठोंके

बीचमें बोलनेका मौका मिला है तो हम सोचते हैं, हम बोलनेमें क्यों कञ्जूसी करें? पता नहीं फिर कब सुनानेको मिले? आप अपनी बुद्धिके बेकाबू होनेपर क्या बुरा नहीं मानते? तपस्याका अर्थ है—आप धमाधम मत चलिये; धीरेसे एक पाँवके बाद दूसरा पाँव उठाकर चलिये; आपको बिस्तर बिछाना हो तो इतने जोरसे उसको मत झटकिये कि दूसरेकी आँखमें कचरा गिर जाये;पलंगपर बैठना हो तो इतने जोरसे मत बैठिये कि पलंग ही टूट जाये; चलते समय टकराते हुए मत चलिये; आपके पाँव जहाँ आप रोकना चाहें, रुक जायें—माने आपका अपने हाथपर, अपने पाँवपर, अपने कानपर, अपनी आँखपर काबू हो. और यदि शरीरपर भी आपका काबू नहीं रहेगा तो फिर तपका प्रश्न ही क्या उठता है? तो—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

बुद्धिमान बनो। मनीषा माने बुद्धि। मनीषीका अर्थ होता है कि जैसे किसान हल जोतता है और हल उसके काबूमें होता है, वैसे ही मनीषा, बुद्धिके काबूमें मन हो—'**मनसः ईषः मनीषा, हलीषा, हलषः ईषः हलीषाः**'। तो, तपस्याका अर्थ है कि अपने मनको और अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखकर, विचारपूर्वक उचित काम करना। वही काम करें, वही बात बोलें, वही भोग भोगें और वही संग्रह करें जो उचित हो। चार बातोंका हमेशा ध्यान रखो—उचित करो, उचित बोलो, उचित भोगो और उचित वस्तुओंका संग्रह करो। यदि ये चारो बातें तुम्हारे जीवनमें हैं तो तुम्हारी तपस्या भरपूर है।

: ४ :

२८-११-८५

***प्रश्न—'धन्यो गृहस्थाश्रमः'** प्रश्नोत्तर प्रवचनमालाके चतुर्थ दिवसपर पूज्य महाराजको शत-शत प्रणाम निवेदन करती हूँ और सभी श्रोताओंको हार्दिक स्वागत करती हूँ। आजका प्रथम प्रश्न है—*

***'अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य'**—इस कथनानुसार पुरुष या नारी अपने-आपमें अकेला पूर्ण क्यों नहीं है? क्या जिस प्रकार सीता-राम, राधा-कृष्ण तथा गौरी-शङ्कर एक रूप माने जाते हैं, उस प्रकार क्या गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुषकी एकता भी सिद्ध हो सकती है? कृपया समझायें!*

उत्तर—वेदोंमें वर्णन आया है कि—**स.....एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्.....ततः पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्।** (बृहदा.)

परमात्माको अपना एकाकीपन, सूनापन अच्छा नहीं लगा—'**एकाकी नारमतः ततो द्वितीयं अभूत्**'—तब उसने दूसरेकी सृष्टि की—'**पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्**'—और फिर वे दोनों पति-पत्नीके रूपमें हो गये। अर्थात् परमात्माने अपने आनन्दांशको पत्नीके रूपमें प्रकट किया और स्वयं सत्, चित् अंशके रूपमें उससे विहार करना आरम्भ किया।

अच्छाजी, अब वेदमें ही दूसरी जगह आता है कि ब्रह्माजीके मनमें चिन्ता हुई कि हम सृष्टि कैसे बढ़ावें, क्योंकि एकको दो किये बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती थी। एकसे दो, दोसे चार, चारसे आठ हो, तब तो सृष्टि बढ़ती है! और दूसरा कोई था नहीं। तो ब्रह्माजीका खुदका शरीर ही दो हिस्सेमें हो गया—एक हिस्सा पुरुष हो गया और एक हिस्सा स्त्री हो गया।

पुरुष-स्वायम्भुव मनु और स्त्री-शतरूपा। मनन अथवा विचारके रूपमें मनु और श्रद्धाके रूपमें शतरूपा। माने विचार और श्रद्धा आवश्यक हैं—विचारपूर्वक काम करना चाहिए और श्रद्धा चाहिए कि हमें सफलता मिलेगी। केवल बुद्धिसे काम नहीं होता, श्रद्धा भी चाहिए और केवल श्रद्धासे भी काम नहीं होता, बुद्धि भी चाहिए। दोनोंकी जरूरत होती है।

और देखो, वेदोंमें यह जो सृष्टिका विभाग है इसको रय और प्राण सूर्य और चन्द्रमा ऐसे समझो—सोमाग्नि, इन्हींसे यह सारी सृष्टि होती है। सौर-शक्तिप्रधान पुरुष और सोम-शक्तिप्रधान स्त्री। इन दोनोंके द्वारा ही यह सृष्टि सम्पन्न होती है। सृष्टि बढ़ानेके लिए एकसे दो चाहिए और यदि दोनोंमें थोड़ा-सा भेद न हो तो दोके योगसे तीसरेकी उत्पत्ति ही नहीं हो। यह तो बहुत वैज्ञानिक परम्परा है कि स्त्री-पुरुष दोनोंसे सृष्टि होती है! तो अब जब परमात्माको लीला करनी है, तो अकेलेसे लीला होगी कैसे?

एक सै होरी मचै नहीं कबहुँ याते करौं बहुताई।
यही मनमें ठहराय, कृष्णने कैसी होरी मचाई॥

असलमें ये पति-पत्नी जो हैं, ये प्रकृति-पुरुष नहीं हैं। दोनोंकी आत्मा शुद्ध-बुद्ध मुक्त चेतन है। इनकी (स्त्री-पुरुषकी) आकृति दो होती हैं, पंचभूत इनमें एक ही होता है और मनःतत्त्व भी एक होता है। और आत्म तत्त्व भी एक ही होता है। स्त्री और पुरुषके शरीरमें अन्तर यह होता है कि चाद्र-शक्ति प्रधान होनेसे, सोमरस्की प्रधानता अधिक होनेसे स्त्रीमें आनन्दांश अधिक होता है और तपसकी, माने तपस्याकी शक्ति भी स्त्रीमें बहुत होती है। नौ महीनेतक रेतको गर्भमें रखकर बालकके रूपमें परिणत करना और उसका पोषण करना, स्त्री शरीरमें ही यह शक्ति है, पुरुष शरीरमें नहीं। एक जरा-सा काँटा या कोई कण शरीरमें गड़ जाता है,तो हम उसको नहीं सह सकते—कल मेरे मसूड़ेमें दातूनका एक जरा-सा कण गड़ गया था, तो मसूड़ा इतना सूज गया और इतना दर्द हुआ कि डाक्टरसे निकलवाना पड़ा और जब निकाल दिया तो उसी क्षण ठीक हो

गया। माने मनुष्य-शरीर ऐसा बना हुआ है कि बाहरका एक जरा-सा काँटा या एक जरा-सा कण भी अपने भीतर नहीं सह सकता, उसी क्षण उसे निकाल फेंकता है, जबकि स्त्री नौ महीनेतक अपने पेटमें आये हुए बालकको धारण करती है और अपने शरीरका पौष्टिक तत्त्व उसे देकर उसका पोषण करती है; स्वयं निर्बल हो जाती है, पर बच्चेको स्वस्थ रखती है। तो यह जो पुष्टि शक्ति है, नौ महीने कष्ट उठानेकी शक्ति है, आह्लादिनी शक्ति है—यह स्त्रीमें ही होती है। हम आपके अधिकारपर कोई आक्षेप नहीं करते हैं—स्त्री-पुरुष दोनों ही राष्ट्रपति हो सकते हैं, प्रधान मन्त्री हो सकते हैं, महारानी-महाराज हो सकते हैं—आपके लौकिक अधिकारमें हम कोई कम-ज्यादाकी बात नहीं करते, लेकिन ईश्वरीय स्वरूपमें जो भोग्य और भोक्ता बनकर सृष्टि बढ़ानेकी प्रक्रिया है, उसमें पुरुषकी शक्ति त्याग-प्रधान है और स्त्रीकी शक्ति तपस-प्रधान है। एक क्षणमें वीर्यका एक बिन्दु छोड़कर पुरुष अलग हो जाता है और वह स्त्रीको नौ महीनेतक धारण करना पड़ता है और फिर उसका पालन करना पड़ता है, दूध पिलाना पड़ता है। आजकल तो वैज्ञानिक व डाक्टर लोग भी यह बात कहते हैं कि माताके दूधमें जो पौष्टिक तत्त्व है, संसारके किसी भी पदार्थमें नहीं है। असलमें, दूध पिलाते समय माताका जो स्नेह, उसका जो प्यार बालकको मिलता है, वही उसके लिए सबसे पौष्टिक होता है।

सृष्टिका प्रथम संकल्प जो है वह भेदका संकल्प है, भेदके बिना तो सृष्टिकी वृद्धि हो ही नहीं सकती और जब हम भेद बनावेंगे तो आनन्ददायक भेद ही तो बनावेंगे न! इसलिए परमात्माने आनन्ददायक भेदके रूपमें स्त्रीकी रचना की और यह केवल आनन्ददायक ही नहीं है;बल्कि किसी अंशमें उत्तमांग है! देखो, राजा आज्ञा दे सकता है, गुरु शिक्षा दे सकता है, मित्र डाँट-फटकार करके भी सलाह दे सकता है, गुरु शिक्षा दे सकता है, लेकिन एक पत्नी ही होती है जो मधुर, कोमल-कान्त-पदावलीका प्रयोग

करके अत्यन्त प्रिय रीतिसे पुरुषको समझा सकती है और समयानुसार शिक्षा दे सकती है, उपदेश दे सकती है। साहित्यशास्त्रमें इसको 'कान्ता-सम्मित उपदेश', बड़ा ही मधुर, बड़ा ही मधुर कहा गया है। और यदि दोनों अलग-अलग पूरे हों, पूर्ण हों तो दोनों समुद्रके किनारे धूप सेकेंगे और इधर-उधर लेटकर समय बितावेंगे। असलमें, एक दूसरेके प्रति जो आकर्षण होता है, वह होता ही तब है जब स्त्री और पुरुष दो हों। कभी पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य है, तो कभी स्त्री भोक्ता और पुरुष भोग्य है। दोनोंसे दोनोंको आनन्द आता है, दोनों दोनोंका वंश बढ़ाते हैं, दोनों दोनोंकी धर्म-रक्षामें सहायक होते हैं। मुख्यतः पुरुषको धर्मरक्षक और संयमी बनाये रखनेके लिए स्त्री है और स्त्रीको संयमी और धर्मात्मा बनाये रखनेके लिए पुरुष है। मनुस्मृतिमें तो ऐसे लिखा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

जहाँ स्त्रीकी पूजा होती है वहाँ देवता बच्चोंके रूपमें आ जाते हैं और खेलते रहते हैं। वैसे अलग-अलग मजहबकी अलग-अलग बात और अलग-अलग फिरके हैं। जैन-धर्ममें एक ऐसा फिरका है, जिसमें स्त्रीकी मुक्ति ही नहीं मानते हैं। पुरुषकी मुक्ति होती है, स्त्रीकी नहीं होती, ऐसी उसकी मान्यता है। कोई ऐसा भी मजहब है, जिसमें यह मानते हैं कि जो एकबार स्त्री होती है वह स्त्री और जो एक बार पुरुष होता है, वह हमेशा पुरुष ही होता है। ऐसा भी मजहब है—मुसलमान धर्म ही जिसमें स्त्रीका रूह ही नहीं मानते हैं। उनके अनुसार तो जैसे ककड़ी खानके लिए होती है, वैसे ही स्त्री केवल भोगनेके लिए होती है। अब दुनिया भरकी बात आपको काहेको सुनानी? यह कोई हमारे सनातन धर्मके अनुकूल नहीं है। हमारी वैदिक संस्कृतिमें तो जैसे, मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं, वैसे ही मन्त्रद्रष्टा स्त्री भी हैं। हमारे ग्रन्थोंमें अनेक ऐसी स्त्रियोंका वर्णन है, जिन्होंने वेदके मन्त्रोंका साक्षात्कार किया है और ऐसी भी अनेक स्त्रियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं। आपने मैत्रेयी, गार्गी, वाचनस्वी, सुलभा आदि स्त्रियोंका

नाम सुना होगा, जिनको तत्त्वज्ञान हुआ है! इसके अलावा देवहूतिके जैसा चरित्र तो सारे श्रीमद्भागवतमें और किसी पुरुषका मिलना कठिन है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति दोनोंके रूपमें परमात्मा ही प्रकट होता है और जगत्-लीलाका निर्वाह करता है। **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'**—जैसे स्त्री-पुरुष एक साथ रहकर व्यवहार भी करते है और कभी एकान्तमें रहकर परमात्माका चिन्तन भी करते हैं, वैसे ही परमात्मा भी यह लीला कर रहे हैं। इसमें दोनों उपयोगी हैं, दोनों आवश्यक हैं और दोनों एक तत्त्वके ही दो रूप हैं। इस बातको आप सीता-रामके रूपमें, राधा-कृष्णके रूपमें, गौरी-शङ्करके रूपमें सबमें देख सकते हैं। सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। शिवजीके वक्षःस्थलपर कालिका नृत्य करती है, तो नारायणके वक्षःस्थलपर लक्ष्मी नित्य निवास करती है। सीताराम—*'गिरा अर्थ जल बीच सम कहियत भिन्न-न-भिन्न'* और राधा-कृष्ण जो हैं सो ***'एक स्वरूप द्वंय नाम'***। इसलिए यह परमात्माका लीला-विलास है। वही स्त्री है, वही पुरुष है। वेदका एक मन्त्र है—**'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि। त्वं कुमार त्वं कुमारी।'** प्रभो, तुम्हीं स्त्री हो, (इसमें स्त्रीका ही नाम पहले है) तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो।

स्त्री समस्ता सकला जगत्सु विद्या समस्ता सर्वदेवभेदाः।

संसारमें जितनी स्त्री हैं, सब जगदम्बाका स्वरूप हैं। तो नारायण, माता-पिता दोनोंसे ही सृष्टि होती है। उपनिषद्में—तैत्तिरीय उपनिषद्में पहले **'मातृदेवो भव'** आया है और बादमें **'पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव'** और **'अतिथि देवो भव'** (क्रमसे) आया है।

तो स्त्री-पुरुष माने दोके बिना यह सृष्टि हो ही नहीं सकती। स्वयं परमात्मा भी स्त्रीके बिना सृष्टि बनानेमें असमर्थ है और अपनेमें शून्यताका अनुभव करता है। वेदोंमें ऐसे बहुत-से मन्त्र आते हैं—

तदैक्षत बहु स्याम्; प्रजायेय सोऽकामयत बहु स्याम्।

वैसे स्त्री-पुरुषमें तत्त्वत: कोई भेद नहीं है, केवल आकृतित्व भेद है। जैसे खाँडके दो भिन्न-भिन्न खिलौने बना दिये जायें, तो ऐसा नहीं है कि खाँड खाँड नहीं रहेगी—हमने 'गंगा-कुटीर' (कानपुर)में पहले देखा कि बच्चे मोमके खिलौने, आटेके खिलौने बना-बनाकर आपसमें खेला करते थे। बस, वैसे ही परमात्मा—जैसे गुड्डा-गुड़िया बनाकर बच्चे खेलते हैं—की यह लीला है, क्रीड़ा है और सर्वथा आनन्ददायक है। ध्यानसे देखें, तो इसमें कहीं दोष अथवा दु:खकी कोई गुञ्जाइश नहीं है!

प्रश्न—'ताडनात् बहुदोषाः ताडनात् बहुगुणाः'—आचार्य चाणक्यके इस कथनमें कहाँतक सत्यता है और इसे घरमें कैसे चरितार्थ करें—कृपया समझायें। कृपया बच्चोंके लालन-पालन और ताडनकी सीमा एवं औचित्यपर भी प्रकाश डालें!

उत्तर—लाडयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

पाँच वर्षकी उम्रतक तो बच्चेको दुलार-प्यारसे रखना चाहिए, दस वर्षकी उम्रतक डरा-धमकाकर शासनमें और सोलह वर्षके बाद उसको मित्रकी तरह रखना चाहिए! पर लाड़-प्यारकी बात यह है कि वह 'आया'का प्यार नहीं कि खुद तो कुत्तेको गोदमें लेकर मोटरमें बैठकर घूमने चले गये और बच्चा आयाके पास छोड़ गये! (बाबा, यहाँ कोई आया बैठी हो तो माफ करे!) पर आप स्वयं सोचो कि आप जो दूध पिलायेंगी और आया जो दूध पिलायेगी—तो आपके व आयाके स्वभावमें अन्तर होगा कि नहीं और उसका प्रभाव बच्चेपर पड़ेगा कि नहीं?

एक हमारे सिन्धी भगत हैं। उनके बच्चोंका अभी हालमें ही विवाह हुआ है—पाँच-पाँच करोड़ रुपये खर्च करके। तो जब वे छोटे थे और आया उनको रखती, खिलाती थी तब कहती—बेटा, भगवान्‌से प्रार्थना

करो कि हे प्रभु, हमारी आयाके लिए एक मकान बना दो। तो वह हाथ जोड़ता भगवान्‌के सामने! और जब कोई पूछता कि क्या माँगते हो भगवान्‌से? तो बोलता—हम माँगते हैं कि हमारी आयाको एक मकान मिल जाये। अब वह आया ही तो सब काम करती थी बच्चेका—वही दूध पिलाती, वही खाना खिलाती, वही नहलाती, सुलाती—तो उसके लिए ही तो बच्चा प्रार्थना करेगा। उसमें भी कोई भली हो तो बात दूसरी है, कोई-कोई तो ऐसी भी होती हैं, जो एकान्तमें बच्चेको मारती भी हैं और उसका बढ़िया भोजन भी स्वयं खा लेती हैं! छोटी जातिकी होती हैं—उनका शील-स्वभाव दूसरा ही होता है। पर आजकलकी माताएँ—क्या कहें उनके लिए, वे अपनी जवानी बनाये रखनेके लिए और बहुत दिनों तक भोग करनेकी वासनासे अपने बच्चोंके प्रति जो अपराध करती हैं—हमको लगता तो अपराध ही है, पर मैं अपना बोला हुआ अपराध शब्द वापस ले लेता हूँ और अनुचित बोलता हूँ—अनुचित लगता है पर माताओंकी समझमें यह बात थोड़े ही आती है—बच्चे अपने हृदयके टुकड़े होते हैं, इसलिए अपनी परम्परागत जो भावना है, उससे भी उच्चकोटिकी जो भावना हो, वह उनके शरीरमें जानी चाहिए।

मैंने सुना है कि रूसमें ऐसी प्रथा है कि वहाँ बच्चे सब सरकारी होते हैं। एकदम ठीक-ठीक तो हमको नहीं मालूम, पर सुना हमने ऐसा ही है कि वहाँ जो जच्चाखाना होता है, वहाँ बच्चा पैदा करके माताएँ घर चली जाती हैं, और बच्चे वहीं रहते हैं। तो एक माँ-बेटेकी यह बात है कि उसकी माँ अपने बच्चेसे मिलनेके लिए कभी-कभी जाया करती। जाती तो कभी फल ले जाती, कभी फूल ले जाती और कभी कुछ खानेका बनाकर ले जाती! एक दिन माँने अपने बेटेसे पूछा—'बेटा, तुम्हें क्या चाहिए, मैं तुम्हारे लिए क्या लाऊँ?' बच्चा बोला—'मुझे तुम चाहिए; खाना-पीना, फल-फूल मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे तुम चाहिए।' तो ऐसा होता है बच्चेका हृदय और कितना

कठोर है आपका हृदय कि आप अपने दिलके टुकड़ेको अलग रखकर, दूसरे पर छोड़कर रह जाती हैं—

तेरो कठिन हियो री माई!

हमलोगोंकी जो वैदिक संस्कृति है, जन्म होनेपर जो मन्त्र पढ़ा जाता है, जो जातकर्म-संस्कार होता है—

अङ्गात् अङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

मेरे एक-एक अङ्गके रससे तुम निकले हो, तुम मेरे हृदयके स्नेहपिण्ड हो। असलमें, मेरी आत्माका नाम ही पुत्र है!' तो, पुत्रके प्रति यह स्नेह . यह दुलार, यह प्यार होना बहुत आवश्यक है!

अब रही बात यह कि बच्चेको शिक्षित कैसे करें? तो बच्चे उपदेश व शिक्षा कम मानते हैं, अनुकरण अधिक करते हैं। तो हम कभी-कभी सोचते हैं कि आगे तो पता नहीं क्या आयेगा, अभी तो 'वीडियो'का युग आगया है, तो ये धनी लोग, जो समर्थ हैं क्यों नहीं बच्चोंके देखने योग्य 'वीडियो' बनाकर घर-घरमें रखें और बच्चोंको दिखावें कि अच्छे बच्चे कैसे होते हैं, कैसे रहते हैं, कैसे सब करते हैं; ताकि देखकर वे भी उनकी नकल करें कि हम भी ऐसे बनेंगे। इसके अलावा यदि कभी कोई बालक गलत सङ्गमें पड़ गया हो या गलत रास्तेमें जाता हो, तो उसकी मनोवृत्तिको अपनी ओर खींचनेके दो उपाय हैं—ऐसा करनेसे तुमको यह सुख मिलेगा, यह मजा मिलेगा, यह चीज खानेको, खेलनेको मिलेगी-लोभ एक उत्कृष्ट उपाय है और दूसरा भय—यह नहीं करोगे तो तुमको यह दण्ड मिलेगा। शासन-मनवानेके लिए चाहिए ही—लोभ या भय; पुरस्कार या दण्ड। पर यह पुरस्कार और दण्डका भय कुछ वर्षोंतक ही होना चाहिए! लेकिन जब पुत्र बड़ा हो जाये तब उसका आदर करना चाहिए कि यह हमारी अगली पीढ़ीकी सारी जिम्मेवारी सम्हालनेके लिए आया है। एक सज्जन (करीब ४० वर्षके) दो-चार दिन पहले मेरे पास आये और बोले—मेरे पिता ६०-६५ वर्षके हो गये

हैं; लेकिन न वे मुझे व्यापार करनेका मौका देते हैं और न ही मुझपर विश्वास करते हैं, तिजोरीकी चाभी तो देते ही नहीं हैं। ादि कहीं ये १०-१२ वर्ष और जिन्दा रह गये, तो मेरी तो सारी जिन्दगी यों ही गयी। मुझे भी तो कुछ करनेका मौका मिलना चाहिए। तो हर बातमें बच्चोंको रोकना-टोकना नहीं चाहिए और शंका तो करनी ही नहीं चाहिए! यदि आप उनपर अविश्वास करेंगे तो वे अविश्वासका काम और अधिक करने लगेंगे और जब आप उनपर विश्वास करेंगे, तो वे वैसे ही बन जायेंगे।

यदि आप उससे कहेंगे कि देखो, जो आया है बाहर उससे जाकर कह दो कि 'बाबूजी घरमें नहीं हैं', तो ठीक है, वह आपकी आज्ञा मान लेगा और वैसा कह देगा; लेकिन स्वयं अपने बारेमें भी तो वह इस विद्याका प्रयोग करेगा, उसको भी झूठ बोलनेका अभ्यास हो जायेगा। और यदि आप पूजा-पाठ करेंगे, सन्ध्या-वन्दन करेंगे, तो बच्चे भी वैसा ही सीखेंगे।

अच्छा देखो, वैसे नाम लेकर बोलना उचित तो नहीं है, पर राजीव गाँधीने राजनीतिकी शिक्षा कहाँ प्राप्त की? वे तो हवाई जहाज चलाते थे। लेकिन इनकी माँ, इनके नाना, इनके परनानाकी बुद्धि कहीं बीजरूपसे इनके जीवनमें रही होगी, जो अवसर पाकर प्रकट हो गयी। तो परम्परागत शिक्षासे बुद्धि आती है, वह अलग और एक परम्परागत बुद्धिका प्रकाश होता है—वह अलग। तो नारायण, आप अपने बालककी देख-रेख, बालककी शिक्षा ऐसे ढंगसे कीजिये कि वह गुटबन्दी, पार्टीबन्दी, फिरका-परस्तीमें न फँसे और प्रान्तीयताके कारण राष्ट्रका नाश न करे और जातीयताके कारण राष्ट्रका नाश न करे और जातीयताके कारण मानवताका नाश न करे। सम्प्रदाय, मजहब आदिकी मनोवृत्तियाँ संकीर्ण होती हैं। अतः सम्प्रदायके कारण सच्चे धर्मको नष्ट न करें, पार्टीके कारण राजनीतिको भ्रष्ट न करें और अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिए दूसरोंको हानि न पहुँचावें। बल्कि सत्यके पक्षपाती बनें, उसके लिए पूरे विश्वकी एक जाति हो—मानव-जाति और सबके प्रति उसकी वृत्ति उदीर्ण हो, संकीर्ण नहीं।

आप अपने बेटेको छोटा मत बनाइये, बड़े-से-बड़ा बनाइये और यदि उसके बड़ा होनेमें कोई बाधा पड़ती हो, तो उस बाधाको दूर कीजिये। आपके घरमें, आपके बालकके रूपमें एक बहुत कीमती हीरा आया है। वह पहले बेडौल हो सकता है, उसमें माटी लगी हो सकती है; पर आप उसे साफ कीजिये, उसकी माटी छुड़ाइये, उसको बेडौलसे सुडौल बनाइये और पालिश करके उसकी चमकको निखारिये, उसको धारण करने योग्य बनाइये। अब एक बात और है कि चमक निखारनेके लिए कभी घिसना पड़ता है, तो कभी पालिश करनी पड़ती है, तो कभी कुछ और करना पड़ता है, ताकि वह उत्तम कोटिका बन सके!

बनारसमें एक रामेश्वर जौहरी थे। उन्होंने हमें बताया कि एकबार उनके पास गाँवका एक किसान कोई चमकदार पत्थर लेकर आया! उस पत्थरको उन्होंने बीस रुपयेमें खरीद लिया। किसान बहुत खुश हो गया, पत्थरके उसे बीस रुपये मिल गये! फिर उन्होंने उसे साफ करवाया। साफ करवाते ही उसकी कीमत बीस रुपयेसे बीस हजार हो गयी। फिर उसकी घिसायी की गयी, उसमें पालिश की गयी और तब, जब वह पूर्ण रूपसे प्रकट हुआ उसकी कीमत दो लाख आँकी गयी। तो ऐसे ही माँ-बापका भी अपने बालकके प्रति—वह पुत्र हो कि पुत्री हो—यही काम है—आप बालकको चमका दीजिये।

अच्छा, आप मानते हैं न कि राम भी एक दिन बालक थे; रघु, युधिष्ठिर भी बालक थे; वसिष्ठ-विश्वामित्र बालक थे; गाँधी-नेहरू भी बालक थे—तो ये जो बालक आपके घरमें आते हैं, पता नहीं इनके रूपमें कौन महापुरुष आपके घरमें आया है—**'महती देवता हि सा'**—बहुत बड़ा देवता बालकके रूपमें आपके घरमें आया है। इसलिए, जैसे आप देवताकी पूजा सजा-सँवारकर प्रेमसे करते हैं वैसे ही आप अपने बालकको सजा-सँवारकर श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ रूपमें दुनियाके सामने कर दीजिये—बालकके प्रति यह आपका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि वर्णमालामें और सब अक्षर एक-एक हैं, परन्तु 'स' तीन बार है—मानो भगवान् कहना चाहते हैं—सहो, सहो, सहो! महाराजजी कृपया हमें बतलायें कि सहिष्णुताकी सीमा कहाँ तक है, कहाँतक हमें सहना चाहिए?

उत्तर—सहिष्णुता वह होती है जो हमें असीममें मिला दे, वह नहीं जो हमें सीमामें रखे। और देखो, सहिष्णुता हमारे जीवनका एक तात्त्विक पदार्थ है और हमारे रोम-रोममें उसका मूल रहता है। कैसे? कि हमारा शरीर मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे बना हुआ है और मिट्टी है—तो उसको चाहे कोई खो दे, चाहे गन्दी करे और चाहे पूजा करे—वह सब सहती है; पानी है—पानीमें हम पनाला भी मिलाते हैं और दूध भी चढ़ाते है, पानी सहता है; आगमें-हम गन्दगी भी जलाते हैं, मुर्दा भी जलाते हैं और हवन भी करते हैं—आग सहती है; वायुमें हम दुर्गन्ध भी फैलाते हैं, सुगन्ध भी फैलाते हैं—वायु सहता है; आकाशमें हम अच्छे शब्द भी बोलते हैं, बुरे शब्द भी बोलते हैं—आकाश सब सहता है। है कि नहीं? अच्छा, अब जरा अपने मनकी ओर देखिये—मनमें अच्छे-बुरे भाव आते हैं—हम उनको सहते हैं, बुद्धिमें अच्छे-बुरे विचार आते हैं और परमात्माके बारेमें भी हम लोग अच्छा-बुरा सोचते ही हैं। अध्यस्त वस्तुके साथ अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं होता! सबसे बड़ा सहिष्णु है ब्रह्म, जिसमें मायाके द्वारा सारी सृष्टि आरोपित होने पर भी वह (ब्रह्म) एक भी वस्तुके लिए 'ना' नहीं बोलता है कि नहीं-नहीं, तुम्हारा यह अध्यारोप गलत है। तो सहिष्णुता एक सद्गुण है। सद्गुण है माने सत् तत्त्वसे हमारे जीवनमें आया हुआ है। और सत् तत्त्व है परमात्मा। परमात्माके अंशमें परमात्माका गुण-सहिष्णुता आती है!

अच्छा, अब आते हैं व्यावहारिकतामें—वह यह है कि जब घर-गृहस्थीमें चार जने मिलकर रहते हैं अथवा चार जनोंसे मिलते रहते हैं।

(घरमें चार जने न भी हों, तो बाहर तो लोगोंसे मिलना ही पड़ता है) तो यदि हममें सहनशक्ति न हो—दूसरेके विचार, दूसरेके वचन, दूसरेके कर्म हम नहीं सह सकते हों, तो किसी प्रकारकी उन्नति हमारे जीवनमें नहीं हो सकती। असलमें, सहते हुए ही आगे बढ़ा जाता है। एक महात्मा सुनाया करते थे, शायद मैंने भी आपको पहले सुनाया हो—एक कुत्तेने एक योजना बनायी कि वह सौ कोसकी यात्रा करेगा और रोज दस-दस कोस चलकर, दस दिन में यात्रा पूरी कर लेगा। ऐसा निश्चय करके वह अपने गाँवसे बाहर निकल गया और थोड़ी देरमें दूसरे गाँवके पास पहुँच गया, पर दूसरा गाँव आते-आते वहाँके सारे कुत्ते उसपर चढ़ बैठे। अब उसने सोचा—कि रास्तेमें न जाने ऐसे तो कितने गाँव पड़ेंगे और कहाँ-कहाँके कुत्ते मुझपर चढ़ाई करेंगे और मैं अकेला होऊँगा और ये न जाने कितने, तो वहीं मुझे घायल करके गिरा देंगे, तो यात्रा तो रह ही जायेगी, मैं मारा और जाऊँगा। इसलिए कुछ न बोलकर सह लेना ही उचित होगा! ऐसा सोचकर उसने अपनी पूँछ दबायी और काँय-काँय करता हुआ वहाँसे भागा। उसको भागते देखकर गाँवके कुत्ते उसको गाँवके बाहर खदेड़कर वापस आगये। वह कुत्ता आगे बढ़ गया। हर गाँवमें ऐसा ही हो। इस तरह हुआ यह कि जो यात्रा दस दिनमें पूरी होने वाली थी, वह दो ही दिनमें पूरी हो गयी। तो यह कैसे हुआ? कि वह सहता गया, सहता गया। इसके विपरीत यदि वह हर गाँवके कुत्तोंसे लड़ना शुरू कर देता तो एक दिनकी भी यात्रा पूरी नहीं कर पाता और मार खाता ऊपरसे। ऐसे ही आदमी यदि हर आदमीसे लड़ता चलेगा तो सफल कैसे हो सकता है? और हमलोगोंकी लड़ाई तो प्रायः शान दिखानेके लिए होती है। एक बार मैंने सुना कि दो आदमीके सिर इसलिए फूट गये कि उनमें इस बातपर बहस शुरू हुई कि रूस जीतेगा या अमेरिका। नतीजेमें दोनोंने एक दूसरेका सिर फोड़ दिया और दोनों हमेशाके लिए दुश्मन बन गये।

एक हँसीकी बात सुनाते हैं—मिर्जापुरमें ठण्डके दिनोंमें दो आदमी

शामके समय अलाव (आग) जलाकर तापनेके लिए बैठे! बात करते-करते खेतीकी चर्चा करने लगे! एकने पूछा—'क्या करनेका मन है?' दूसरेने कहा—'इस साल गन्नेकी खेती करेंगे।' 'कहाँ करोगे?' बताया—'तुम्हारे घरके सामने जो खेत है, वह मेरा है, उसमें गन्ना बोयेंगे।' दूसरा बोला—'इसमें गन्ना बोओगे तो कभी हमारी भैंस तुम्हारे खेतमें जा सकती है और तुम्हारा गन्नः खा सकती है।' बोला—'वाह, भैंस कैसे हमारे खेतमें आ सकती है और गन्ना खा सकती है? और यदि आगयी तो हम उसको 'कांजी हाउस' ले जायेंगे।' दूसरा बोला—'यदि हमारी भैंसको तुम 'कांजी हाउस' ले जाओगे, तो हम डण्डेसे तुम्हारा सिर फोड़ देंगे।' अब पहलेने उठायी हाथमें छोटी-सी लकड़ी और जमीनपर रेखा खींचते हुआ बताया कि देखो, यह है हमारा खेत और यह की मैंने इसमें गन्नेकी बुआयी। अब यह घुसी तुम्हारी भैंस और यह मैं उसको ले चला 'कांजी हाउस।' बस, इतना सुनते ही दूसरे ने उठाया डण्डा और ऐसा दे मारा उसके सिरपर कि सिर वहीं फूट गया। तो प्रायः लोग अपनी कल्पनाके लिए और अपनी शान दिखानेके लिए ही आपसमें लड़ाई कर लेते हैं।

और देखिये, हम कह दें साफ-साफ—कई घरोंमें तो भाई-भाईमें लड़ाई हो जाती है, पति-पत्नीमें लड़ाई हो जाती है। वे यह भूल जाते हैं कि पति-पत्नीका जो विवाह-सम्बन्ध है, वह धर्म-पालनके लिए होता है; संयमके लिए होता है, भोगके लिए नहीं होता है। विवाह होता है ताकि एक स्त्रीका सम्बन्ध अनेक पुरुषोंके साथ न हो और एक पुरुषका सम्बन्ध अनेक स्त्रियोंके साथ न हो। अब, जिस धर्मकी रक्षाके लिए अथवा जिस धर्मके पालनके लिए विवाह हुआ है, यदि उसी धर्मको तोड़नेके लिए पति या पत्नी एक दूसरेको कहें तो वह मान्य नहीं होना चाहिए। माने यदि पति स्वयं अपनी पत्नीसे कहे कि तुम पर-पुरुषके साथ जाओ और रहो तो उस समय पत्नीको सहिष्णु नहीं होना चाहिए, आग हो जाना चाहिए, तेज हो जाना

चाहिए—'तुम्हारी यह हिम्मत? हमारे सामने ऐसी बात? आगे कभी ऐसे मत बोलना।' सहिष्णुताकी सीमा ही तो पूछना चाहते हैं ना आप? तो जहाँ धर्मके विपरीत हो वहाँ सहिष्णुता तोड़कर उद्दीप्त हो जाना चाहिए और जहाँ केवल उचितके विरुद्ध हो वहाँ प्रेमसे समझाना चाहिए और मेल-मिलापके द्वारा अपना काम चलाना चाहिए और यदि किसी बातमें मतभेद हो तो उस बातको थोड़ी देरके लिए टाल देना चाहिए; कामकी तो बहुत-सी बातें टालते रहते हैं कि आज नहीं कल करेंगे और कल नहीं परसों करेंगे। तो कामकी बात न टालकर, लड़ाईकी बात घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टोंके लिए टाल दी जाये तो सम्भवत: फिर लड़ाई हो ही नहीं।

देखो, व्यवहार तो करना ही पड़ेगा। तुम आज अपने पतिकी मत सहो, पत्नीकी मत सहो, पुत्रकी मत सहो, सासकी मत सहो, पर फिर भी व्यवहार तो तुम्हें करना ही पड़ेगा और उसमें न जाने किसकी-किसकी सहनी पड़ेगी? तो जब औरोंकी सहोगे ही तो अपनोंकी क्यों नहीं सह लेते हो?

एक महात्मा हमको गाली दिया करते थे। देहाती थे, अत: देहाती ही उनका प्रोग्राम रहता था—जब उनको गुस्सा आता, गाली देते, खूब गाली देते! एक दिन मैंने उनसे पूछा—'बाबा, आप इतनी गाली देते हैं?' वे बोले—'अभी तो तुम जवान हो, बीस वर्षके भी नहीं हुए हो और तुम्हारी जिन्दगी लम्बी है, न जाने इस बीच तुम्हें कितने लोग मिलेंगे, जो तुम्हारा अपमान करेंगे तुम्हारी निन्दा करेंगे, तुम्हें गाली देंगे, तो यदि तुम्हें मेरे—जिसे तुम बाबा कहते हो, महात्मा मानते हो—गाली बुरी लगती है, तुम नहीं सह सकते हो तो आगे अपने जीवनका निर्वाह, जीवनका संचालन कैसे कर सकोगे? जीवनमें सहनेकी आदत होनी चाहिए!

तो जिसके जीवनमें सहिष्णुता नहीं है—देखो, गर्मी सहनी पड़ती है, सर्दी सहनी पड़ती है, वर्षा सहनी पड़ती है, पड़ोसीको सहना पड़ता है और अपने घरमें अपने पतिको, अपनी पत्नीको, पुत्रको, सासको, ससुरको, माँ-

बापको नहीं सहोगे तो फिर सारा जीवन जीओगे कैसे! जीवन तो सारा सहिष्णुतासे ही व्यतीत करना है। तुम बताओ—तुम्हारे मनके अनुसार सबका मन कहाँ मिलेगा? तुम्हारे विचारके अनुसार सबके विचार कहाँ मिलेंगे? तुम्हारी रहनीके अनुसार सबकी रहनी कहाँ मिलेगी? तो सबसे मिलकर ही तो आगे बढ़ना पड़ेगा ना? इसलिए, सहिष्णुता जैसी परमात्मामें है, वैसी ही हममें भी होनी चाहिए, क्योंकि उसीका एक अंश हमारा जीवन है! जिसके जीवनमें सहिष्णुताका अभ्यास नहीं होगा, उसका जीवन अत्यन्त दु:खी हो जायेगा। इसलिए, जीवनमें सहिष्णुता होनी ही चाहिए। कोई छोटा हो तो उसको क्षमा करो, अपने बराबरका हो तो समझा-बुझाकर मेल-मिलाप कर लो और अपनेसे बड़ा हो तो उसको सह लो-सहिष्णुता जीवनका सर्वोत्तम गुण है।

प्रश्न—वाणीकी कटुता एवं असंयमके कारण छोटी-छोटी बातोंको लेकर बड़े-बड़े वाद-विवाद हो जाते हैं। महाराजजी, कृपया हमें समझायें कि वाणीके तपको किस प्रकार जीवनमें साधा जाये?

उत्तर—धर्मके ग्रन्थोंकी बात तो अलग है, आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा मिलता है कि यदि हम वाणीके कुछ नियम अपने जीवनमें रखें तो हमारे शरीरमें रोग नहीं हों। कैसे बचावें अपनेको कि वाणीकी जो गर्मी जीवनमें आती है अथवा असत्यकी रक्षा करनेके लिए हमें अपने मनपर जो जोर लगाना पड़ता है—उसके कारण, हमारे शरीरमें उद्वेग भी होता है और अनेक प्रकारके रोग भी हो जाते हैं। तो, स्वास्थ्य-रक्षाकी दृष्टिसे भी और व्यवहार-रक्षाकी दृष्टिसे भी हमें बोलनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना चाहिए।

प्रथम तो बोलनेमें हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम सच बोलें! क्योंकि यदि झूठ बोलेंगे तो उसको याद रखना पड़ेगा कि इस आदमीसे

हमने यह झूठ बोला है और उसको छिपानेके लिए फिर और-और झूठ बोलना पड़ेगा और जैसा कि ऊपर कहा है—याद रखने और छिपानेमें जो अपने मनकी शक्तिका अपव्यय होगा, उससे शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना रहेगी। इसलिए, हमें सच ही बोलना चाहिए!

दूसरी बात—ऐसा बोलें कि जिससे अपना भी हित हो और दूसरेका भी हित हो। माने हित हो तो बोलें और अहित हो तो न बोलें!

तीसरी बात—किसी भी बात को मधुर बनाकर, मीठी करके बोलें। मनुजीने तो कह दिया—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषः धर्म सनातनः॥

सत्य बोलें, परन्तु प्रिय सत्य बोलें। अप्रिय सत्य न बोलें। प्रिय बोलें, लेकिन झूठ न बोलें—'एष धर्मः सनातनः'-यह सनातन धर्म है। तो, बोलनेकी शैली है।

अब चौथी बात—इसपर आप विशेष ध्यान दें—जो सत्य बोले हितकारी बोलें, प्रिय बोलें और जो बोलें-सो थोड़ेमें बोलें। तो क्यों, थोड़ेमें क्यों बोलें? कि जो अधिक बोलता है, वह जरूर झूठ बोलता है और अपने घरकी जो बात नहीं कहनी चाहिए—मोहकी, ममताकी, प्रिय लोगोंकी, अप्रिय लोगोंकी, पक्षपातकी—वह सब भी बोल देता है और न भी बोलें तो भी अधिक बोलनेसे जाहिर हो ही जाता है। आप देखें, हम बोलकर ही तो अपने आपको जाहिर करते हैं। तो बोलना माने अपने आपको जाहिर करना। तो अधिक बोलनेसे किससे आपकी प्रीति है यह भी जाहिर हो जायेगा और किससे आपकी दुश्मनी है, यह भी। और जब लोगोंको यह मालूम हो जायेगा कि फलाँसे आपकी दोस्ती है तो कभी लोग उसके द्वारा आपको विवश कर सकते हैं और जब मालूम पड़ जायेगा कि अमुकसे आपकी दुश्मनी है तो उसके साथ मिलकर आपको कभी ज्यादा दुःख भी पहुँचा सकते हैं। इसी सम्बन्धमें दूसरी बात यह है कि—

नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्।

जैसे आपके पाँवमें चलनेकी शक्ति है, लेकिन यदि आप चलते ही रहेंगे तो आपकी शक्ति क्षीण हो जायेगी, वैसे ही बहुत बोलनेसे (वाणीका अधिष्ठातृ देवता है—अग्नि) शरीरकी शक्ति, शरीरकी ऊष्मा, गर्मी, अग्नि, दीप्ति—माने जीवनमें जो तेजस्विता है, वह क्षीण हो जाती है। (इसीसे जो लोग भागवत-सप्ताह आदि करते हैं, उनके बीच-बीचमें, अग्निको प्रज्वलित रखनेके लिए घी पीनेकी जरूरत पड़ती है। पर यह पुरानी प्रणाली है, अब तो डाक्टरोंका युग आ गया।) इसलिए, थोड़ेमें ही बोलना चाहिए।

सत्य, हित, प्रिय, मित और पाँचवीं बात—आवश्यक हो तो ही बोलना चाहिए। यदि बोले बिना चल जाता है तो क्यों बोलना!

छठी बात—अवसरोचित बोलना चाहिए माने मौकेकी बात करनी चाहिए। ऐसा नहीं किसीके घरमें व्याह है और वहाँ जाकर बात शुरू करें कि हमारे घरमें जब हमारे बाबा मरे थे तब ऐसा हुआ। अरे भाई, उसके घरमें व्याह है और तुम अपने घरकी मौतका बखान कर रहे हो? और किसीके घरमें कई दिनों बाद मातमपुर्सी करनेके लिए गये तो जाते ही माफी माँगी कि इस बार तो आनेमें देर हो गयी, आगे कोई ऐसा काम पड़ेगा तो सबसे पहले आऊँगा। ऐसा नहीं, अवसरके अनुसार बात करनी चाहिए।

इस तरह यदि आप अपनी वाणी का संयम करेंगे—अच्छा, एक बात आपको सुनां देता हूँ—है तो जरा कठोर—जो अपनी जीभको काबूमें नहीं रख सकता, वह बुरा काम जरूर करेगा। जब वह जीभसे बुरा बोल सकता है, तब हाथसे बुरा काम भी कर सकता है, पाँवसे बुरी जगह जा भी सकता है। केवल एक इन्द्रिय जीभपर काबू न होनेसे हम सारी दुनियाँमें यह डोंडी

पीटते हैं कि हमारी इन्द्रियोंपर हमारा कोई काबू नहीं है। इसलिए; बोलनेमें हमें बहुत सावधान रहना चाहिए।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

और हाँ, आपसे बोले बिना नहीं रहा जाता हो तो आप एकान्तमें अथवा बाथरूममें—स्नान करते-करते तुलसीदासजीका एक भजन गा लीजिये—स्नान करनेमें घण्टा, आधा घण्टा तो लगता ही होगा—भजन गा लीजिये अथवा भगवान्‌का नाम बोल लीजिये। बाथरूममें भी भगवान् रहते हैं, ब्रह्म रहता है, इसलिए डरनेकी कोई बात नहीं है—अपवित्र-से-अपवित्र स्थानमें भी यदि आपके मुँहमें भगवान्‌का नाम आता है, तो बोल लीजिये। और—

अनुद्वेगकरं वाक्यम्।

ऐसी बात बोलो जिससे किसीको उद्वेग न हो। सत्य बोलो, प्रिय बोलो, हित बोलो और शास्त्रका स्वाध्याय करो—इससे आपकी वाणीका तप हो जायेगा और आप वाद-विवादसे बचे रहेंगे।

: ५ :

२९-११-८६

पूज्य महाराजश्रीसे 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' प्रवचन-मालाका अन्तिम उपदेश श्रवण करनेका और गृहस्थ-धर्मकी धन्यताको आचरित करते रहनेके शुभारम्भका आज पुनीत दिन है।

जिस प्रकार पारसमणिके स्पर्शसे लोहा स्वर्णमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार महाराजजी द्वारा हमारे प्रत्येक प्रश्नका उत्तर भी शास्त्रीय स्वर्णालंकारमें रूपान्तरित होता रहा है और यह एक ऐसा सुन्दर अलंकार है, जिसके धारणसे जीवन ज्योतिर्मय हो उठेगा।

प्रथम दिन ही महाराजश्रीने बताया कि गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका मूल है और आश्रय है तथा यह भोगका नहीं बल्कि योग एवं मर्यादाका आश्रम है। जीवनमें चरित्रकी प्रधानता बतायी तथा यह भी बताया कि परस्पर विश्वास ही गृहस्थाश्रमका अवलम्बन है। आगे महाराजजीने कहा कि यदि हम सबमें परमात्माका दर्शन करने लग जायें तो हमारे सभी कर्म धर्म बन जायें और मोह, ममता, प्रेम तथा आसक्तिका अन्तर एवं उनसे बोलनेवाले सुख-दुःखका मर्म भी अति सरलता एवं सूक्ष्मतासे हमें समझाया। यज्ञ, दान तथा तपकी भी व्याख्या बहुत ही सुगम तथा महत्त्वपूर्ण ढंगसे की एवं सहिष्णुताको एक परम भगवत्-तत्त्व बताया। इस तरह अनेक मङ्गलमय उपदेश हमें महाराजश्रीसे प्राप्त हुए और हो रहे हैं, जिनपर मनन करनेसे निश्चय ही जीवन मनोरम एवं परिष्कृत होगा।

हम सभी श्रद्धाप्लुत एवं भाव-विगलित श्रोता एवं प्रस्तोता महाराजश्रीकी दीर्घायुके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं और महाराजश्रीको कोटिशः प्रणाम करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारी सद्वृत्तिकी वृद्धि हेतु हमें अपने आशीर्वाद दें। साथ-साथ मैं वरीय प्रेमी श्रोताओंकी लगन एवं उत्साह की सराहना करता हूँ और उनका लाड़भरा अभिनन्दन करता हूँ। वे धन्य तो स्वतः ही हो चुके हैं।

गृहस्थाश्रमका विषय विशाल है एवं हमारी जिज्ञासाएँ भी अगणित हैं, किन्तु समयाभावसे आज हम केवल दो ही प्रश्न करेंगे और उसके उपरान्त महाराजजीसे हमारी याचना है कि वे हमारे लिए जो भी उपदेश उपयुक्त समझें, हमें देनेकी कृपा करें! आजका प्रथम प्रश्न है—

प्रश्न—*'संसार एवं भौतिक कामनाएँ'—गृहस्थके मुख्य कर्म तथा धर्मक्षेत्र हैं और शास्त्र इन्हें दुःखस्वरूप कहते हैं तथा गीता भी स्थान-स्थानपर संसार एवं जन्म-बन्धनसे मुक्त होनेपर बल देती है। और परमहंस श्रीरामकृष्ण कहा करते ते कि 'हम घरमें रहें, घर हममें न रहे; नाव पानीमें रहे, नावमें पानी न रहे—कृपया समझायें!*

उत्तर—अपने मनमें भगवान्‌का स्मरण करके जो भी कार्य किया जाता है वह मङ्गलमय होता है। बस, दृष्टि भगवान् पर होनी चाहिए, वृत्ति भगवान्‌में लगनी चाहिए। श्रीबल्लभाचार्याजी महाराज जगत् अलग मानते हैं और संसार अलग मानते हैं वे कहते हैं कि संसार दूसरी चीज है और जगत् दूसरी चीज है। जैसे मिट्टी है, पानी है, स्त्री है, पुरुष है, पेड़ है, पौधा है—ये सब तो भगवान्‌के या प्रकृतिके बनाये हुए पदार्थ हैं—इनका नाम जगत् है। मनुष्यके बनाये हुए जो पदार्थ हैं—जैसे, यह जमीन मेरी, यह मकान मेरा, यह धन मेरा, यह स्त्री मेरी, यह पुरुष मेरा—इनका नाम संसार है और वेदान्ती लोग भी दो तरहकी सृष्टि मानते हैं—ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि। उनके अनुसार स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, मनुष्य-देवता—ये सब ईश्वरके बनाये हुए हैं और 'यह मेरा, यह तेरा'—यह जीवका बनाया हुआ है। सांख्यमें भी ऐसे ही मानते हैं—एक प्रकृतिका परिवार और एक अविवेक, अविद्याका परिवार। तो अविवेक-अविद्याका जो परिवार है—'वह'और जीवोंकी जो सृष्टि है—'वह'—संसार है और ईश्वरकी अथवा प्रकृतिकी जो सृष्टि है—'वह' जगत् है। पर, दुःख केवल संसारमें ही होता है, जगत्‌में नहीं होता—यह बात हमारे वेदान्तों, वैष्णव व सांख्य-दर्शनवाले—सभी मानते हैं! उनका

कहना है कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके पास दुःख है ही नहीं, तो वह दुःख बनायेगा तो कहाँसे बनायेगा? यह (दुःख) तो यह अज्ञानी जीव मेरा-तेरा करके—यह जमीन मेरे ही पास रहे तेरे पास नहीं जावे, यह धन मुझे ही मिले, तुझे न मिले यह आदमी मेरा ही रहे तेरा न रहे, यह छूटे नहीं, यह टूटे नहीं, यह फूटे नहीं—दुःखकी सृष्टि करता रहता है। वस्तुओंके साथ अपने मनमें सम्बन्ध जोड़ लेना—ईश्वर-सृष्टि नहीं, जीव-सृष्टि है। और पहले-पहले यह सम्बन्ध बहुत घना मालूम पड़ता है, पर धीरे-धीरे कम होता जाता है। जैसे कि यदि कोई एक दिन गाली दे-दे या डंडा मार दे तो पहले दिन जैसी चोट लगेगी, वैसी (वैसा ही करनेसे) दूसरे दिन, तीसरे दिन नहीं मालूम पड़ेगी, चौथे दिन और कम हो जायेगी। अथवा यदि कोई अपना बिछुड़ता है या मरता है तो पहले क्षणमें जितना दुःख होता है, उतना फिर नहीं होता। धीरे-धीरे एकदम कम हो जाता है और कभी-कभी तो एक वर्ष, दो वर्ष, पाँच वर्ष बीत जाने पर—जो दुःख कभी असह्य मालूम पड़ता था, फिर वह कभी याद ही नहीं आता है और याद दिलानेपर एक सपना-सा मालूम पड़ता है। तो जीवको ईश्वरकी या प्रकृतिकी बनायी सृष्टिमें कोई फेर-फार नहीं करना है, अपनी बुद्धिमें अपने मनमें बनायी जो सृष्टि है उसमें फेर-फार करना है। भक्ति करनेसे मनमें ही फेर-फार होता है, संसारकी घटनाओंमें नहीं। अर्थात् ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान होनेपर बुद्धिमें जो भ्रम है वह मिट जाता है, कुछ बदलता नहीं है। न धरती बदलती है, न आकाश बदलता है, न पुरुष बदलता है, न स्त्री बदलती है; बस वेदान्त-ज्ञानसे भ्रम टूट जाता है, प्रमा हो जाती है, यथार्थ ज्ञान हो जाता है और भक्ति करनेसे भगवान्‌में आसक्ति हो जाती है। जब आसक्ति भगवान्‌से हो जाती है तब संसारकी आसक्ति कम हो जाती है तथा संसारकी वस्तुओंका दुःख भी कम हो जाता है और कुछ समय बाद तो होता ही नहीं। ऐसे ही प्रकृति और पुरुषका ज्ञान हो जानेपर पुरुष अपनेको असङ्ग द्रष्टाके रूपमें जान लेता है और प्रकृतिमें जो परिवर्तन होते हैं, उनको वह तमाशेकी तरह देखता रहता है।

तो पहली बात यह है कि सृष्टिका असली रहस्य समझमें न आनेके कारण हम संसारी हो जाते हैं, चार तरहसे। पहला—मैंने यह किया, मैंने यह किया, मैंने यह किया—अच्छे कर्मोंका भी अभिमान होता है और बुरे कर्मोंका भी अभिमान होता है। हमने चोर-डाकुओंको भी, जब वे वर्णन करने लगते हैं तब, यह कहते सुना है कि हमने इतनी चोरी की, इतना डाका डाला, इतने लोगोंको मारा, इतना धन लूटा और कभी किसीके पकड़में नहीं आये। तो यह अच्छा-बुरा काम करनेका जो अभिमान होता है कि मैंने यह काम किया, यह संसार है।

दूसरा—हमको यह भोग मिला, यह भोग मिल रहा है और आगे यह भोग मिलेगा और अच्छा भोग मिला हो या बुरा—भोगे हुए भोगकी याद आनेपर दुःख होता ही है—हाय-हाय; अब यह नहीं है और हाय-हाय मेरे साथ पहले ऐसा हुआ था। और इस समय पूरा-पूरा भोग किसीको मिल नहीं पाता और आगे मिलनेमें तो भय रहता ही है।

तीसरा—'मरनेके बादमें स्वर्गमें जाऊँगा या नरकमें'—इसका विचार!

चौथा—संसार यह होता है कि हम अपनेको ईश्वरसे बिलकुल अलग करके एकदम छोटा, परिच्छिन्न मान लेते हैं, जब कि ईश्वर इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि कोई प्रयोगशाला, कोई लेबोरेटरी, कोई कम्प्यूटर, कोई गणित उसको तो क्या उसके अंशको भी नहीं नाप सकता। जब देशका अंश नहीं नापा जा सकता, कालका अंश नहीं नापा जा सकता, वस्तुका अंश नहीं नापा जा सकता, तब ईश्वरका अंश तो नापा ही कैसे जा सकता है!

तो इस तरह हम देखते हैं कि कर्मके अभिमानके रूपमें; भोगके अभिमानके रूपमें; लोक-परलोक, पुनर्जन्म-नरक-स्वर्गके अभिमानके रूपमें; और अपनी परिच्छिन्नताके रूपमें—संसार हमारे जीवनमें रहता है। तो तत्त्वज्ञान होनेपर ये चारों प्रकारके अभिमान अथवा चारों भ्रम टूट जाते हैं और अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, जगत् ज्यों-का त्यों बना रहता है। पर तत्त्वज्ञान हो जानेके बाद भी ज्ञानी-अज्ञानीका शरीर एक ही तरहका रहता

है। उनको मिट्टी, पानी, आग, हवा, सूर्य, चन्द्रमा सब एक तरहके ही दिखते हैं, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। मूल बात यह होती है कि हमारी बुद्धिमें परिवर्तन हो जाता है, हमारी बुद्धि ठीक हो जाती है। जिस समय हमको दुःख होता है, उस समय हमारी बुद्धि ठीक नहीं होती है; जिस समय हम डर जाते हैं—आजकल जो यह रोग बहुत लोगोंको होता है 'डिप्रेशन', उस समय हमारी बुद्धि ठीक नहीं होती है। जिस समय हम नशेकी कोई वस्तुका सेवन करते हैं हमारी बुद्धि ठीक नहीं होती है।

कलखलमें एक बार साधुओंकी एक पञ्चायत जुड़ी थी। उसमें मादक-द्रव्य माने नशीली चीजोंका सेवन कोई न करे—यह व्यवस्था बनायी गयी थी। पञ्चायतमें एक विरक्त भिक्षु श्रीशंकरानन्दजी आये हुए थे। उन्होंने कहा कि मादक-द्रव्य क्या होता है, इसकी एक परिभाषा बनाओ। ज्यादा-धन होनेका नशा होता है, या नहीं? (वहाँ तो सेठोंकी बात नहीं, महन्त-मण्डलेश्वरोंकी बात थी, इसलिए आपलोग अपनेको उससे मुक्त रखें, यह आपलोगोंकी बात नहीं है, साधुओंकी बात है) कि जो साधु होकर महन्त-मण्डलेश्वर होते हैं और जिनके पास बहुत धन होता है, तो उनको अपने धनका नशा होता है या नहीं? देखो, एक ग्रन्थ है संस्कृतमें, उसका नाम है—'भाव-प्रकाशन'। बड़ौदाके 'ओरियण्टल सीरीज'से प्रकाशित हुआ है। वर्षों पहले। उसमें यह लिखा है कि जो लोग नशीली चीजोंका सेवन करते हैं उनको नशा होता है, यह बात तो है ही, इसके अलावा अपने शरीरकी सुन्दरताका भी नशा होता है, बहुत सुन्दर पत्नी होनेका भी नशा होता है, अपने गलेकी मिठासका भी नशा होता है। अब और आपको क्या-क्या बतावें—बस, **'न शं यया सा नशा'**—जिससे शान्ति कभी नहीं मिले—वह नशा! दुनियाकी किसी भी वस्तुके कारण—धनके कारण, जनके कारण, कुर्सीके कारण, विद्या-बुद्धिके कारण, ज्यादा वोट मिलनेके कारण—जो हमारी बुद्धि बिगड़ जाती है, उसमें नशा आजाता है—उसका नाम **नशा है**, उसका नाम संसार है। एक तो मनुष्य स्वयं होता है दुःखी, दूसरे **यदि हम**

उससे कहें कि तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं है, तो अच्छा नहीं लगता है। पर, निश्चय ही जो दुःखी है उसके ज्ञानमें कोई दोष है। जब तुम जड़ वस्तुसे प्रेम करोगे तो तुम्हारी बुद्धि जड़ हो जायेगी, जब तुम भगवान्‌से प्रेम करोगे तो तुम्हारी बुद्धि भगवन्मय हो जायेगी। और यदि तुम धर्मसे प्रेम करोगे तो तुम्हारी बुद्धि धर्ममय हो जायेगी। इसलिए, संसारमें रहकर, जड़ संसारसे मुक्त रहिये ठीक वैसे ही जैसे कमल जलमें रहकर, जल संसर्गसे मुक्त रहता है, जल पीता है, पर जलसे चिपकता नहीं है, जलसे असङ्ग रहता है—ऐसे ही आप भी संसारमें तो रहिये, पर उससे चिपकिये मत, असङ्ग रहिये और जैसे नाव पानीमें रहती है, परन्तु नावमें पानी नहीं रहता है। ऐसे ही मनुष्यकी बुद्धि, शरीर संसारमें रहे, आत्मा-आत्मामें रहे, परमात्मा-परमात्मामें रहे, सूर्य-चन्द्रमा नियमसे उदय हों और प्रकाश और चाँदनी बरसें—संसारका सब काम होता रहे और हम, हम अपनेमें रहें, परमात्मामें रहें—इससे बढ़कर दुःख-निवृत्तिका और कोई उपाय नहीं है।

अब आप देखो, आपका असली स्वरूप है—सच्चिदानन्द—सत्-चित्-आनन्द। इसका सीधा-सीधा अर्थ है—आप। सत् माने आप। आप हैं, जिन्दा हैं और जिन्दा रहना चाहते हैं। तो आपका धर्म है कि आप जीवित रहें और दूसरेको जीवित रहने दें। और जीवित रहनेके लिए आपको अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, आवास-स्थान चाहिए, औषधि चाहिए तो दूसरोंको भी चाहिए; तो स्थान हो, दूसरेके लिए भी आवास-स्थान हो, आपके लिए भी औषधि हो और दूसरेके लिए भी औषधि हो—ऐसा यदि आप सोचते हैं तब तो आप सत् हैं और यदि आप केवल अपने लिए अन्न, वस्त्र, मकान, औषधि चाहते हैं और दूसरेके अन्नमें, वस्त्रमें, मकानमें, औषधिमें बाधा डालते हैं तो आप असत् हो जाते हैं सत् नहीं रहते हैं। अच्छा, आप मरनेसे डरते हैं कि नहीं? यदि मरनेसे डरते हैं तो दूसरेको मारिये मत। अगर आप हिंसाका आश्रय लेते हैं तो आप अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं।

अच्छा चित्। चित् माने ज्ञान। आप चेतन हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं,

समझदार रहना चाहते हैं, नासमझ रहना नहीं चाहते। तो आप स्वयं समझदार रहिये और दूसरेको भी समझदार बननेका मौका दीजिये। उनके लिए आप विद्यालय बनाइये, सत्संग-भवन बनाइये, प्रयोगशाला बनाइये—अर्थात् अपने ज्ञानको बढ़ाइये और दूसरेके ज्ञानको भी बढ़ाइये। यह आपका चित्-स्वरूप होगा, चित्पना होगा। स्वयं बुरा काम मत कीजिये, दूसरेको बुरा काम करनेके लिए प्रोत्साहित मत कीजिये।

और अब आनन्द! आप आनन्द-स्वरूप हैं, आप सुख-स्वरूप हैं, सुखी रहना चाहते हैं, तो दूसरेको भी सुखी रहने दीजिये। स्वयं सुखी रहिये और दूसरेको सुखी कीजिये—यह आपका धर्म हो गया। पोथीमें इसे पढ़नेकी कोई जरूरत नहीं है, आप अपने जीवनमें ही यह पढ़िये कि आप दूसरेको बेवकूफ बनाकर अपना काम कर रहे हैं या कि दूसरेको समझदार बनाते हुए अपना काम कर रहे हैं? तो, स्वयं बेवकूफ मत बनिये और दूसरेको बेवकूफ मत बनाइये। आप दुःखी नहीं रहना चाहते हैं, सुखी रहना चाहते हैं तो स्वयं सुखी रहिये, दूसरेको सुखी बनाइये। न स्वयं दुःखी रहिये, न दूसरेको दुःखी कीजिये—यह 'सच्चिदानन्द'का व्यावहारिक रूप है—बस, आप अपने हृदयमें इसपर विचार कर लीजिये।

एक बार देशके एक बड़े नेता मेरे पास आये वृन्दावनमें। एक दिन अपने आश्रममें रहे भी। बैठे थे मेरे पास, सत्संग चल रहा था, तो मैंने उनसे कहा—फूटो मत और फूट डालो मत। कुछ बोले नहीं मुझसे, कुर्सी पर ऐसे लटक गये और सोचने लगे। कुछ बोले नहीं मुझसे, कुछ पूछा भी नहीं, पर अपनी पार्टीमें उन्होंने मेरे विषयमें चर्चा की—स्वामीजी कांग्रेसी हैं। तो अभेद आत्माका स्वरूप ही है—फूटना नहीं और फूट डालना नहीं। फूट जाना और दूसरेको फूटनके लिए उकसाना—ये दोनों ही अपने स्वरूपके विपरीत हैं। मिलकर रहो और मिलाकर रखो; सुखी रहो और सुखी रखो, समझदार बनो और समझदार बनाओ और स्वयं जीवित रहो और दूसरोंको जीवित रहनेमें सहायता करो। संसारमें रहकर आप हिन्दू रहिये, परन्तु

मनुष्यताको मत छोड़िये; आप बंगाली रहिये परन्तु भारतीयताको मत छोड़िये, आप हिन्दी, बंगाली रहिये परन्तु भारतीयताको मत छोड़िये। आप हिन्दी बोलिये परन्तु, हिन्दी न बोलनेवालोंके ऊपर आक्षेप न कीजिये और पार्टीबन्दीसे मुक्त रहकर, सत्यका अनुसन्धान कीजिये और सुखी रहिये, सुखी रखिये; ज्ञानी रहिये, ज्ञानी बनाइये और सच्चरित्रता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कीजिये और दूसरेको भी प्रोत्साहित कीजिये।

एकने हमसे आज पूछा था—'अपनी तपस्या और संकल्पके द्वारा हम दूसरेको उत्तम बना सकते हैं कि नहीं?' मैंने कहा—'देखो, हम अपनी तपस्या और संकल्पके द्वारा स्वयं अपनेको तो बहुत सुगमतासे उत्तम बना सकते हैं, पर दूसरेको तो तभी बना सकते हैं, जब दूसरा स्वयं उत्तम बनना चाहे। जैसे, समझो वर्षा हो रही है और एक घड़ा वर्षामें रखा है तो केवल घड़ा रख देनेसे ही घड़ा नहीं भर जायेगा, वर्षाका पानी ग्रहण करनेके लिए घड़ेका मुँह भी ऊपरको होना चाहिए। वैसे ही आपकी तपस्या और संकल्प दूसरेके जीवनमें तभी काम करेंगे, जब वह चाहेगा कि उत्तम बनूँ!'

तो आप संसारमें रहकर, संसारके प्रभावसे मुक्त रहिये और संसारके लिए अपने असली स्वरूपको मत छोड़िये। आप शहरमें जाइये, परन्तु लौटकर अपने घरमें आजाइये, आप विदेश जाइये, लेकिन फिर स्वदेश लौट आइये। और जब आप अपने घरमें, कितना उत्तम कोटिका है कि आपका मन कहीं और—विदेशमें, स्वर्गमें--स्वर्ग भी विदेश ही है, जैसे होटलमें पहले पैसा जमा कर देते हैं और फिर—हमारे सेठ हैं, उन्होंने होटलमें बहुत रुपया जमा कर दिया कि अब यहीं रहेंगे और रहने लगे, पर जब पैसा खत्म हो गया तो उनसे कह दिया गया कि आप होटल छोड़ दीजिये, पर फिर भी वे सात-आठ दिन और रह गये तो होटलवालोंने उनकी मोटर कुर्क (जब्त) कर ली कि जबतक पैसा नहीं चुकाओगे, मोटर यहाँसे नहीं जा सकती। तो इसी तरह आप जहाँ कहीं भी जाकर रहेंगे—स्वर्गमें भी, तो जबतक आपका जमा किया हुआ पुण्य-कर्म रहेगा, तबतक आपको वहाँ रहने देंगे और

बादमें आपको वहाँसे निकाल देंगे। तो इस संसारकी जितनी सम्पदा है, जितना भोग है सब पुण्य-रूपी कीमतसे खरीदा हुआ है, जहाँ आपका पुण्य समाप्त हुआ वहाँ यह सब समाप्त हो जायेगा। अन्ततोगत्वा आपको अपने घरमें ही आकर रहना पड़ेगा। और घर ही ऐसी जगह है जहाँ पानीमें नाव तो है, पर नावमें पानी नहीं है। आप सब बन्धुओंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें बैठ सकते हैं। अपने घरमें बैठ सकते हैं, अपने परिवारमें बैठ सकते हैं, अपने पुत्र, अपनी पत्नीके साथ रह सकते है; अपने शरीरमें रह सकते है।

अब यह है कि जबतक आप पराधीनताको स्वीकार करते रहेंगे, आपको दुःख-ही-दुःख मिलता रहेगा! इसलिए, अपनी स्वाधीनताको किसी भी कीमतपर मत छोड़िये और सबसे बड़ी स्वाधीनता है—परमेश्वरके साथ अपने सम्बन्धका भान। जब आपको इसका भान होने लगेगा, आपको पराधीनता पराधीनता नहीं मालूम पड़ेगी। अपनी सरकारकी पराधीनता पराधीनता नहीं होती है, अपने पतिकी पराधीनता नहीं होती है और अपने पिताकी पराधीनता पराधीनता नहीं होती है। फिर आप परायापन रखते ही क्यों है? सबको अपनी सरकारमें सम्मिलित कर लीजिये ना? फिर तो बस आप आनन्द-ही-आनन्द रहेंगे!

प्रश्न—*'अज्ञेय' जीने लिखा है—**'यह दीप अकेला गर्व भरा मदमाता, फिर भी इसे पाँतिको दे दो'**—अकेले दीपकी उज्ज्वलता तथा पाँतिमें युक्त हुए दीपकी उज्ज्वलताका अपना अलग-अलग स्थान-विशेष सौम्य है। नयी पीढ़ीके लोग व्यक्तिगत विकासके अत्यन्त वशीभूत होकर अपने आत्म-सम्मान तथा अहंकार सम्बन्धी मान्यताओंका सही मूल्याङ्कन नहीं कर पाते हैं। परिवारके सम्बन्धमें कृपया इसे समझायें!'*

उत्तर—हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब रहते थे। सन् १९१६ में जब पञ्चम जार्ज भारत आये थे और दिल्लीमें दरबार हुआ था तब उन्होंने उनसे हाथ मिलाया था। ठाकुर साहब कभी-कभी हमारा भी मिलना-जुलना

होता था। तो वे हमसे कहते—'बाबाजी, कौन है हमारी बराबरीका, जिससे सम्राट्ने हाथ मिलाया हो?' उनको इस बातका बड़ा भारी गौरव था।

अच्छा, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहा करते—'रोज सबेरे उठकर एक बार मन-ही-मन भगवान्से हाथ मिला लिया करो। माने जैसे ही नींद टूटे, भगवान् सामने आये और हमने उनसे हाथ मिलाया और फिर दिन भर उसका गौरव अनुभव करो कि हमने आज भगवान्से हाथ मिलाया है, जैसे ठाकुर साहब जिन्दगी भर यह गौरव करते रहे कि सम्राट् पञ्चम जॉर्जने हमसे हाथ मिलाया है।'

आपके प्रश्नके प्रसंगमें ठाकुर साहबकी ही एक और बात सुनाता हूँ। पहले वे धनी थे, बादमें बहुत गरीब हो गये थे। परन्तु, उनका स्वभाव ऐसा था कि जो भी उनके घरके सामनेसे निकलता, उसको वे बिना खिलाये-पिलाये नहीं जाने देते। जब तक धनी थे, तबतक तो कोई बात ही नहीं थी, गरीब होनेके बाद भी ऐसा ही करते रहे। बादमें यहाँ तक हो गया कि गाँवके मोदीने उनको उधार भी देना बन्द कर दिया। तब वे अपने घरके बर्तन ले जाकर उसको दे देते और खाने-पीनेकी चीजें ले आते। एक बार उनके घरमें रातके समय कोई मेहमान आ गया, अब उस दिन घरमें लकड़ी नहीं थी जलानेके लिए, भोजन बनानेके लिए। तो उन्होंने अपनी खाट तुड़वा दी और जब फिर कभी जरूरत हुई तो घरके किवाड़ तुड़वा दिये—ऐसे उदार थे!

इनकी ही एक और बात सुना देता हूँ—एक बार मैं उधरसे सुबह ८-९ बजेके आस-पास निकला, तो खाटपर बैठे थे मसनदके सहारे और गुड़गुड़ी पी रहे थे। मुझे देखा तो बुलाया—'बाबाजी, बाबाजी! आइये।' अन्दर कहलवाया—बाबाजीके लिए मोहनभोग बनाओ! आया बनकर मोहनभोग। खाया मैंने और फिर मैंने कहा कि 'बाबूजी, खिलाकर खानेमें बहुत मजा है।' वे बोले—'नहीं बाबाजी, आप गुरु हैं तो क्या, उम्र मेरी बड़ी है, मुझे ज्यादा अनुभव है—खिलाकर खानेमें वह मजा नहीं है जो खिलाकर भूखे रह जानेमें है। देखिये, जिस दिन रातको कोई मेहमान आजाता है और

हमलोग उसको खिलाकर स्वयं भूखे सो जाते हैं, उस दिन हमको जो आनन्द आता है, वह आनन्द खानेसे नहीं आता है!'

तो भाई मेरे, सबकी ज्योतिसे मिलकर अपनी ज्योति जले! सबके सुखका, सबकी सुविधाका, सबकी समझका, सबके जीवनका ध्यान रखकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। यदि कोई यह सोचे कि हम दूसरोंको दुःखी करके आगे बढ़ेंगे या दूसरोंको धकेलकर आगे बढेंगे तो, वह आगे बढ़ना भी अन्तमें आपको पीछे करके ही रहेगा। हम कोई ५०-५५ वर्षसे, ६० वर्षसे संसारकी गति-मति-रति देख रहे हैं। बड़े-बड़े राजा थे—उनको देखा, बड़े-बड़े सेठ थे, उनको देखा और बड़े-बड़े गरीबोंको देखा—कुछ भी नहीं रहा। न वे राजा राजा रहे, न वे सेठ रहे और न वे गरीब गरीब रहे। इतनी तेजीसे दुनिया बदल रही है कि यदि आप उससे अपनेको अलग करना चाहेंगे तो इतने पीछे छूट जायेंगे जिसकी कोई हद नहीं। दुनिया तो अपनी गतिसे आगे बढ़ेगी और आप पीछेकी वस्तुओंको पकड़कर उसीमें जकड़े रहेंगे तो जड़ हो जायेंगे। आपने श्रीमद्भागवतमें सुना होगा कि सात वर्षके श्रीकृष्ण और नब्बे वर्षसे अधिकके नन्दबाबा—श्रीकृष्णने जाकर, नन्दबाबासे पूछा कि 'यह क्या तैयारी हो रही है, बाबा?' बाबा बोले—'तैयारी हो रही है इन्द्रदेवताके पूजाकी।' बोले कृष्ण—'यह इन्द्र कौन है बाबा? कबसे इसकी पूजा होती है?' नन्दबाबाने कृष्णको सब समझाया और फिर सात वर्षके बालक कृष्णने नन्दबाबाको समझाया कि 'हमारी गौएँ गोवर्धनपर घास चरती हैं; हमारे भाई-बन्धु सब पहाड़-पहाड़ीमें रहते हैं, वनमें रहते है; हमारी गौएँ जमुनाजीका जल पीती हैं और हम सब लोग कैसे परस्पर मिलकर हँसते-खेलते-बजाते-गाते हैं बाबा, हम तो बनवासी लोग हैं—'**वनशैल निवासिनः**'—भागवतका श्लोक है—वन और पहाड़में रहनेवाले, तो बाबा, हमारे देवता तो ये गिरिराज हैं, आओ हम इनकी पूजा करें!' तो आप उस वयोवृद्ध बाबाकी मनःस्थिति देखो—कितनी उदारता भरी है कि वे अपने नन्हें-से बालककी बातका आदर करके पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आयी इन्द्रकी पूजाको छोड़कर गोवर्धनकी पूजा करते हैं। और इससे,

ऐसा नहीं कि उनको कष्ट न आया हो, विघ्न न आया हो, उनको बहुत बड़ा कष्ट आया, पर भगवान्‌ने उससे उनकी रक्षा की।

तो पहली बात यह है कि दूसरेका दीया बुझाकर आप-अपना दीया मत जलाइये। सबके घरमें दीया जलता रहेगा तो आपके घरका भी जलता रहेगा और यदि सबके घरका दीया बुझ जायेगा तो आपके घरमें भी दीया जलना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए, सबके प्रति अपनी दृष्टि उदार हो, अपने हृदयमें सहानुभूति हो, प्रेम हो, सद्व्यवहार हो, सद्भावना और सद्विचार हो। इसके साथ एक बात और कह देता हूँ—आप-अपने स्वरूपको भी देखिये, आप दूसरेके साथ जो व्यवहार कर रहे हैं वह आपको गन्दा करनेवाला तो नहीं है? जिससे आप स्वयं गन्दे हो जायें और दूसरे भी गन्दे हो जायें—ऐसा व्यवहार हमारे जीवनमें नहीं होना चाहिए—वह अनुचित व्यवहार है। एक गृहस्थको इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसके पड़ोसीको क्या तकलीफ है, उसको खानेको मिला है कि नहीं मिला! हमारे पितामह सुनाया करते थे—अब वे होते तो १३६-१३७ वर्षके होते! हमलोगोंके घरमें पहले बहुत गरीबी थी—अपने बचपनकी बात आपको बताता हूँ—तो जब कोई मेहमान हमारे घरमें आता तो हमारे पड़ोसीको इसका पता चल जाता। उसका घर हमारे घरसे थोड़ी दूरपर था। छोटी जातिका विन्द था और उसका नाम था—बिहारी विन्द। घरके बाहर दरवाजेके पास खाटपर बैठा रहता और सब बातका ध्यान रखता। तो जब वह देखता कि गाँवके ब्राह्मण (हमारे घर)के घरमें मेहमान आया है तो झट अपनी पत्नीको इशारा कर देता और उसकी पत्नी एक टोकरीमें चावल, दाल, आटा, घी, शक्कर, सब्जी, दही, दूध—सब रखकर ढक लेती और अपने सिरपर रख लेती और 'कोई सब्जी लेगा सब्जी और कोई दही लेगा दही'—बोलती हुई—बेचनेका अभिनय करती हुई घरमें घुस जाती और चुपकेसे सब सामान देकर, वैसे ही—टोकरी सिरपर रखकर—बोलती हुई घरसे बाहर निकल जाती। तो, बोलती हुई आती और निकलती इसलिए कि किसीको पता न लगे और सामान लाती इसलिए कि मेहमानको अच्छा खिलाया-पिलाया जा सके। हमारा

पड़ोसी ऐसा होना चाहिए, भला! और यदि आप स्वयं ही पड़ोसीका ख्याल नहीं करेंगे तो पड़ोसी आपका ख्याल क्यों करेगा? हमारा तो हाल यह रहता है कि हम दूसरोंसे तो आशा रखते हैं कि वह हमारे साथ बढ़िया बर्ताव करे, जबकि अपने बर्तावकी तरफ ध्यान ही नहीं देते हैं। हमें अपनी ओर ध्यान देना चाहिए।

देखो, जिसका देनेका मन होता है वह कैसी-कैसी युक्ति निकाल लेता है, इसकी एक और बात आपको सुनाता हूँ। एक पण्डितजी थे चिड़ावा-राजस्थानमें। उनका व्रत था कि वे किसीसे दानके रूपमें कुछ नहीं लेंगे, प्रतिग्रह नहीं करेंगे। मजेसे अपना जप करते, पाठ करते और अयाचित वृत्तिसे रहते। उसी गाँवमें एक सेठ थे। वे सोचते—पण्डितजी जब अयाचित-वृत्तिसे रहते हैं, तब ये खायेंगे कैसे और इनका परिवार कैसे चलेगा? उन्होंने अपनी पत्नीसे इसकी चर्चा की। पत्नीने कहा—यह क्या मुश्किल है? आपको भले ही कठिन मालूम पड़ता है, पर है यह बहुत आसान। पूछा—कैसे? तो पत्नीने कहा—'बस, आप यह मुझपर छोड़ दें।' वह क्या करती—दही जमाते समय दहेंड़ीमें गिन्नियाँ डाल दिया करती, दही जम जाता तो पण्डितजीके पास भेज देती। पण्डितजी दहीके लिए मना नहीं करते थे, दही रख लेते और अन्दर भेज देते। और घरमें जब उनकी पत्नी दही निकालती तो उसमें-से गिन्नियाँ निकलतीं, जिसे वे उठाकर रख लेतीं—उनका तो व्रत था नहीं कि वे दान न लें, प्रतिग्रह न करें, इसलिए वे ले लेतीं। इस तरह बहुत वर्षों तक उनका व्यवहार चलता रहा। तो देनेवालेको देनेकी बुद्धि भी तो होनी चाहिए!

गृहस्थाश्रमका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वयं खूब खाये, पीये, मौजसे रहे और उसका पास-पड़ोस दुःखी रहे, भूखा रहे! गृहस्थाश्रमका अर्थ है—सब उसीका परिवार है। सच तो यही है कि हमलोग सचमुच एक उसीके हैं, वही एक ईश्वर हम सबका पिता है और हम सब भाई-बन्धु हैं—भाई-बन्धु नहीं बल्कि हम सब एक ही हैं, सबके भीतर एक ही परमात्मा है। ऐसा नहीं है कि हमारा शरीर दूसरे पञ्चभूतोंसे बना है और अफ्रिकन,अमेरिकन या

यूरोपियनका शरीर दूसरे पञ्चीभूतोंसे बना है। नहीं, हम सब एक ही 'मैटर' से बने और हम सबको बनानेवाला भी एक ही है! बस, बुद्धिके भेदसे हमने अपनी समझ इतनी छोटी बना ली है कि एक-दूसरेके सुख-दुःखका कोई ध्यान नहीं रखते हैं।

देखो, सूर्य सबको रोशनी दे रहा है, चन्द्रमा सबको चाँदनी दे रहा है, ईश्वर चैतन्यसे सब चैतन्यवाले बन रहे हैं। तो हमें, जीवनमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि हम सब एक ही वर्गके हैं—बंगाल और विहारके बीचमें कोई पहाड़की चहारदिवारी नहीं है और मनुष्य-मनुष्यके शरीरमें कोई विभाजक रेखा नहीं है, पर सबकी अपनी-अपनी रीति है, अपनी-अपनी प्रीति है, अपनी-अपनी रहनी है, अपनी-अपनी सहनी है! बस, हमारे हृदयमें सबके प्रति सद्भाव बना रहे और हम सब खूब उन्निति करें।

देखो, लोग यह युग, युग कहते हैं पर, समयका प्रभाव कुछ नहीं है। सतयुगमें जैसे सत्पुरुषोंका वर्णन मिलता है वैसे आज भी हैं, त्रेतामें जैसा वर्णन मिलता है वैसे भी आज हैं। और पहले भी वैसे लोग कम थे, आज भी कम हैं। यदि मनुष्यका मन ठीक रहे तो काल क्या करेगा और परिस्थिति क्या करेगी? और परिस्थिति तो हमारी ही बनायी हुई होती है, हम चाहे उसको दुःखदायी बना दें और चाहे सुखदायी । जब पाकिस्तान बना था तब वहाँसे एक सज्जन आने लगे हिन्दुस्तान। आते समय उन्होंने अपनी सारी जमीन एक मुसलमान सज्जनको लिख दी और उन्होंने वादा किया कि वे ६०००) प्रति माह—जो कि उस जमीनकी आमदनी थी—उस समय—उनके नामसे भारतमें भेजते रहेंगे। वे आ गये पर उनके आनेके बाद एक बार भी उन सज्जनने इनको रुपया नहीं भेजा। और सुनो! यहाँ आनेके बाद उन्होंने दूसरा जो व्यापार किया, उसमें भी, उनको घाटा लगा! इतने पर भी एक दिन हमारे सामने आकर, आनन्दमें भरकर खूब नाचने लगे। दोनों हाथ उठा-उठाकर नाचें!

मैंने पूछा—क्या बात है भाई? तो बोले—'स्वामीजी, आज मैं जान गया कि ईश्वर मुझे पहचानता है।' 'कैसे पहचानता है?' 'कि मैं जो-जो

काम करता हूँ, उसको वह बिगाड़ देता है। माने हमको ऐसा पहचान गया है, ऐसा पहचान गया है कि हमारा कोई काम बनने ही नहीं देता। तो हमको इसकी खुशी है कि ईश्वर हमको पहचानता तो है।' बादमें जब फैसला हुआ तब जमीनका तो कुछ नहीं मिला, पर उनका जो मकान था पकिस्तानमें उसके बदलेमें—दिल्लीमें उनको दो-तीन मकान हो गये और (दिल्लीमें तो मकानकी कीमत बहुत होती है) उन्हें बेच-बाचकर उन्होंने अपना काम-काज ठीकसे जमाया और जो कर्जा हो गया था, वह भी चुका दिया।

अब एक कठोर बात और सुनो! इनकी ही है। इसी सालके नवरात्रकी है। उनके यहाँ खूब उत्सव हो रहा था। नाच भी हो रहा था, सङ्गीत भी हो रहा था। खूब धूम मची हुई थी। मैं भी वहाँ चौकीपर बैठा हुआ था। तभी किसीने आकर उनके कानमें कहा—'दिल्लीमें, आपके बड़े पुत्रका देहान्त हो गया।' वे धीरेसे उससे बोले—'कि तुम जाओ और जाकर जो कुछ भी करना हो, करो और अभी यहाँ किसीसे कुछ मत बोलो!' वह चला गया और उनके यहाँ उसी तरहसें नाच-गाना, खाना-पीना, बजाना-उत्सव चलता रहा, किसीको कुछ पता नहीं चला और उधर उन लोगोंने जाकर पुत्रकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी। वृन्दावनकी बात है यह। उसके बाद भी वे महीनों जिन्दा रहे, पर उन्होंने अपने मुँहसे कभी नहीं कहा कि मेरे पुत्रका देहान्त हो गया। बड़े ही भगवद्भक्त थे। उनके हृदयपर इसका असर पड़ा हो तो पड़ा हो, परन्तु, बाहरसे हमें भी यह मालूम पड़ा कि उनके हृदयपर इसका असर पड़ा है। दो-चार महीने पहले ही उनका शरीर पूरा हुआ है। तो, जिनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति होती है, वे धन जानेपर तो नाचने लगते हैं और जन जानेका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आपको शायद लगे कि यह बज्र-हृदय है अथवा कैसा हृदय-हीन मनुष्य है। पर नहीं, इस संसारमें रहनेवालोंको हमेशा ही अपनेको तैयार रखना चाहिए कि कैसी भी परिस्थिति आजायेगी, हम विचलित नहीं होंगे, परमश्वरको नहीं छोड़ेंगे, बल्कि खराब परिस्थिति आनेपर और भी जोरसे परमेश्वरको पकड़ेंगे। जैसे बच्चेको यदि कोई उसकी माँ हीं चपत लगा दे, तो भी वह माँकी ही गोदमें

जाता है और-और जोरसे चिपकता है, ऐसे ही हम भी माँकी गोदमें ही हैं, जगज्जनी जगदम्बाकी गोदमें हैं, परमेश्वरकी गोदमें हैं।

यदि संसारमें कोई भी दु:ख आता है तो उसीकी गोदमें छिप जानेके लिए आता है; यदि हमें दूध पीनेके लिए मिलता है तो उसीके हृदयमें-से वह आता है। आपके उत्साहमें-से वह आता है। आप उत्साहमें, सुखमें भरे रहिये और समझदारीके साथ अपने चरित्रकी रक्षा कीजिये।

आपलोग सहृदय हों, आपका मन भला रहे, परस्पर किसीसे आपका विद्वेष न हो, आप एक-दूसरेसे प्रेम करें!

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। भद्रं नो पि वातय आ मनः।

हे प्रभु, हमारे हृदयको कल्याणसे भर दो और कल्याणसे, आनन्दसे भरा हुआ मन लेकर हम जहाँ धरतीपर पाँव रखें, वहाँ उस धरतीपर आनन्द-ही-आनन्द उमड़ पड़े; हम जिसको छू दें, वह आनन्दमें डूब जाये; जो हमारी आवाज सुने, वह आनन्दमें भर जाये; जिसपर हमारी नजर पड़े, हमारी आँखका आनन्द उसको आनन्दित कर दे। आनन्दके फुहारे छूटने लगे, आनन्दकी वर्षा होने लगे, आनन्दकी गंगा बहने लगे, आनन्दका समुद्र उमड़ने लगे—हमारे इस शरीरको; बल्कि एक-एक शरीरको आनन्दका खजाना बनाकर परमात्माने भेजा है। परमात्मा स्वयं आनन्द है और आनन्द-भरा हमारा यह जीवन आनन्द-को उल्लसित करनेके लिए है, उच्छलित करनेके लिए है, रोशनी फैलानेके लिए है, अमृतकी वर्षा करनेके लिए है। यह जीवन न दु:खी होनेके लिए है, न दु:खी करनेके लिए है। यह तो सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्द बाँटनेके लिए है।

अब, अपनी ओरसे हम आपको क्या बात कहें ? आप उत्सवमें रहिये, अपने कर्त्तव्यका पालन कीजिये और निरन्तर उस परमानन्द प्रभुको निहारिये, जो हर स्थानमें, हर वस्तुमें, हर समयमें, हर रूपमें आपके सामने रहता है।

हारिये न हिम्मत, बिसारिये न हरि नाम।
जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये॥

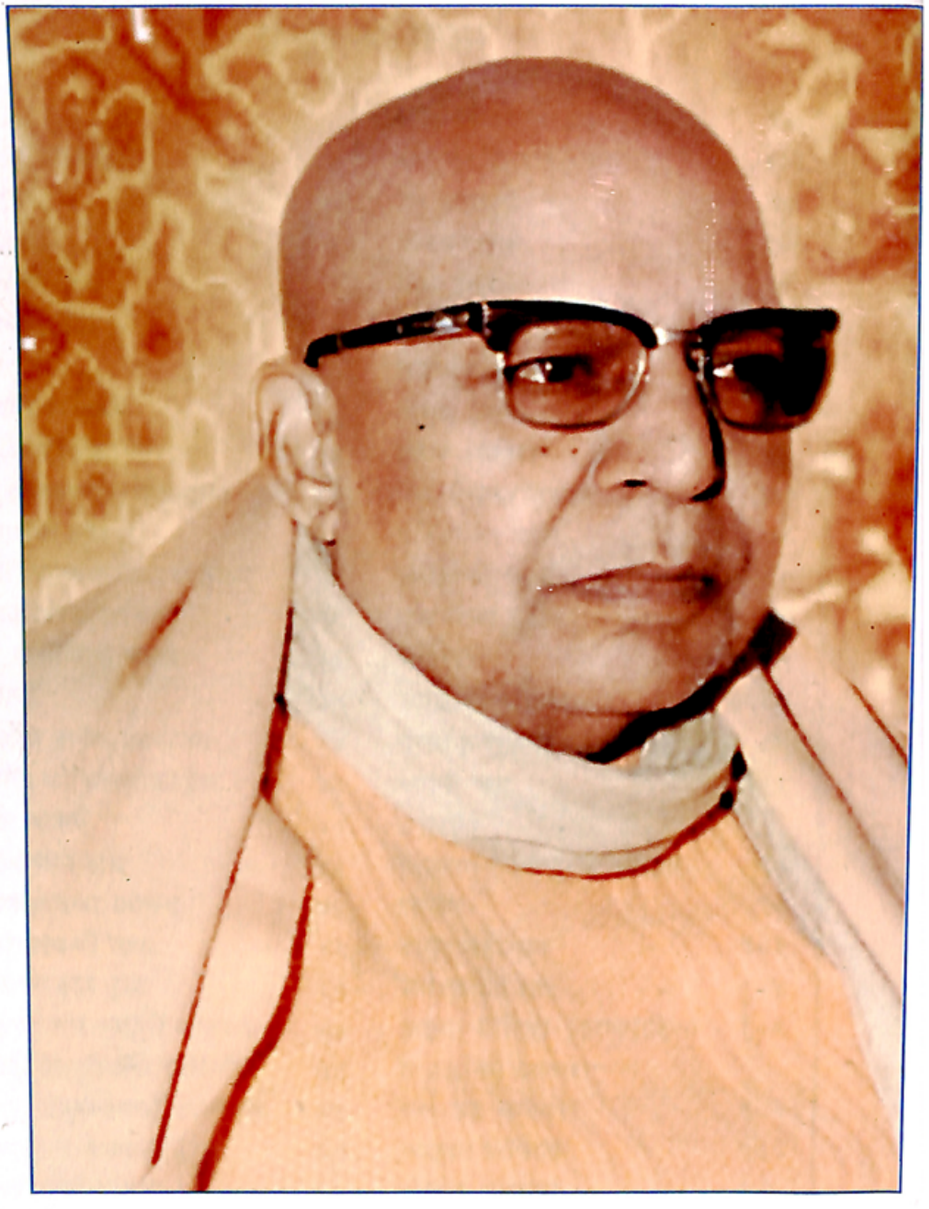

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

गृहस्थ आश्रम धन्य है

महाराजश्रीने बताया कि गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका मूल है और आश्रय है तथा यह भोगका नहीं बल्कि योग एवं मर्यादाका आश्रम है। जीवनमें चरित्रकी प्रधानता बतायी तथा यह भी बताया कि परस्पर विश्वास ही गृहस्थाश्रमका अवलम्बन है। महाराजजीने कहा कि यदि हम सबमें परमात्माका दर्शन करने लग जायें तो हमारे सभी कर्म धर्म बन जायें और मोह, ममता, प्रेम तथा आसक्तिका अन्तर एवं उनसे होनेवाले सुख-दुःखका मर्म भी अति सरलता एवं सूक्ष्मतासे हमें समझाया। यज्ञ, दान तथा तपकी भी व्याख्या बहुत ही सुगम तथा महत्त्वपूर्ण ढंगसे की एवं सहिष्णुताको एक परम भगवत्-तत्त्व बताया। इस तरह अनेक मङ्गलमय उपदेश हमें महाराजश्रीसे प्राप्त हुए हैं, जिनका 'गृहस्थ आश्रम धन्य है' में मनन करनेसे निश्चय ही जीवन मनोरम एवं परिष्कृत होगा।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनदुरूह

आनन्दकानन प्रेस
रेवड़ीतालाब, वाराणसी • फोन : 2392337